10004

जैन भारती

वर्ष 51 • अंक 8 • अगस्त, 2003

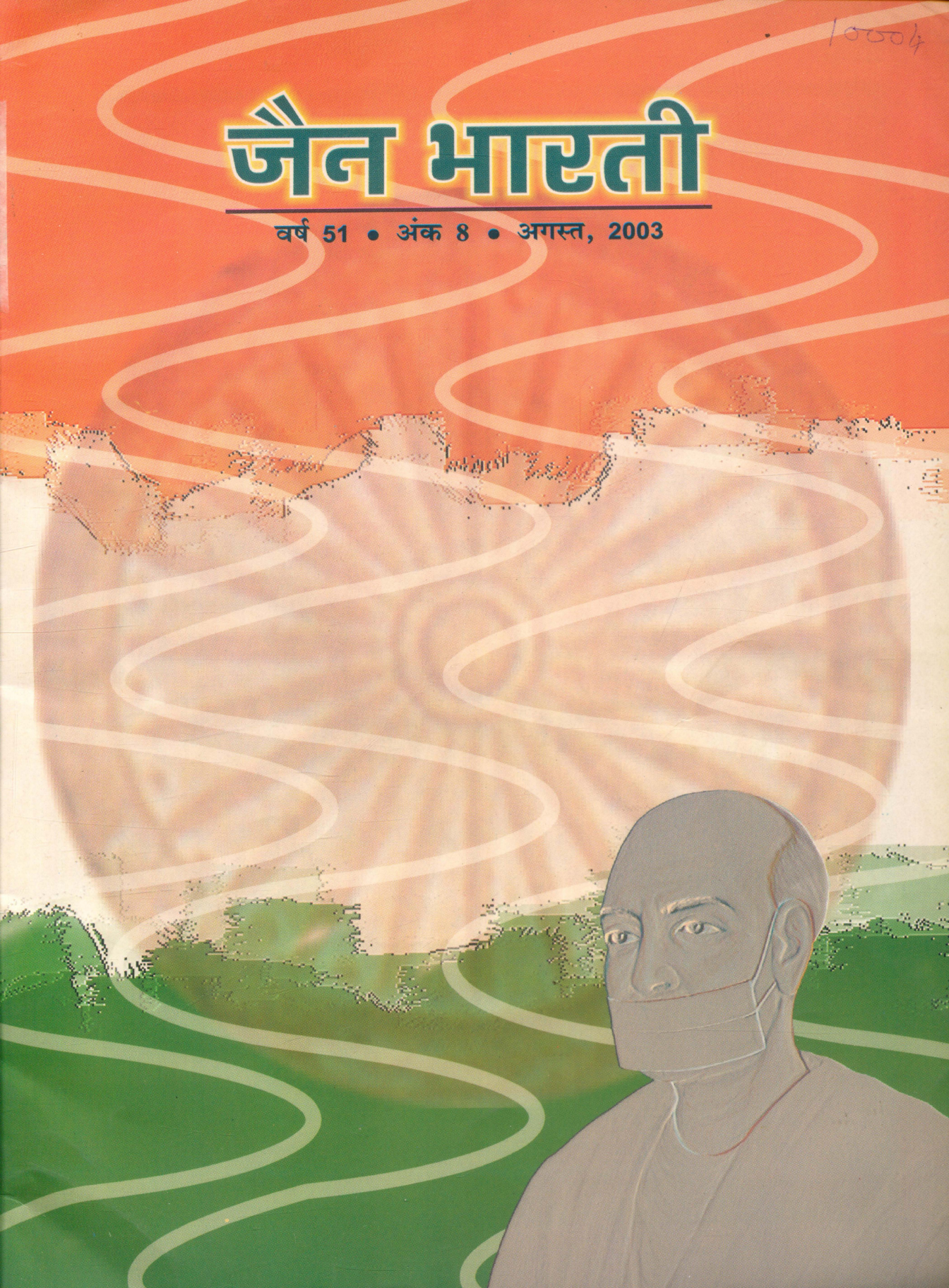

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 51 • अगस्त, 2003 • अंक 8

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
पर्युषणा : मान्य अवधारणाएं

12
जैनेंद्र कुमार
अहिंसा—मानव सभ्यता और आक्रमण

18
मुनि मदनकुमार
संवर : एक मीमांसा

•

आवरण
अडिग

अनुभूति

23
आचार्यश्री तुलसी
मानवजाति के परित्राता—जयाचार्य

27
युवाचार्यश्री महाश्रमण
सुविनीत की कसौटियां

32
साध्वी कनकश्री
उपवास : आत्मा का उजास

36
मुनि तत्त्वरुचि 'तरुण'
मैत्री की महत्ता

39
कहानी
सुदर्शन
काव्य-कल्पना

44
कविता
संजीव मिश्र की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
स्वाधीनता-सहिष्णुता

शीलन

47
महात्मा गांधी
सम-वितरण; शरीर-श्रम और अहिंसा

50
डॉ. जिनेंद्र जैन
अहिंसा : समाज-संरचना का आधार

52
मुनि विनोदकुमार 'विवेक'
सोच्चा जाणई कल्लाणं

54
बालकथा
सु. समुत्तिरम
बोया वैसा ही काटना

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

कुछ लोगों ने हिंदू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति और ईसाई संस्कृति की चर्चा की है। ये नाम मेरी समझ में नहीं आते, यद्यपि, यह सच है कि जातियों और राष्ट्रों की संस्कृतियों पर बड़े-बड़े धार्मिक आंदोलनों का असर पड़ा है। भारत की ओर देखने पर मुझे लगता है कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व, मोहंजोदड़ो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान सभ्यता तक पहुंचता है। दूसरी ओर, इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत ही गहरी छाप है जो भारत में मध्य एशिया से आए थे। पीछे चलकर यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आने वाले तथा फिर समुद्र की राह से पश्चिम से आने वाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में समन्वयन तथा नए उपकरणों को पचाकर आत्मसात करने की अद्भुत योग्यता थी—जब तक इसका यह गुण रहा, यह संस्कृति जीवित और गतिशील रही। लेकिन, बाद को आकर इसकी गतिशीलता जाती रही, जिससे यह संस्कृति जड़ हो गई और उसके सारे पहलू कमजोर पड़ गए। भारत के समग्र इतिहास में हम दो परस्पर विरोधी और प्रतिद्वंद्वी शक्तियों को काम करते देखते हैं। एक तो वह शक्ति है जो बाहरी उपकरणों को पचाकर समन्वय और सामंजस्य पैदा करने की कोशिश करती है, और दूसरी वह जो विभाजन को प्रोत्साहन देती है; जो एक बात को दूसरी से अलग करने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। इसी समस्या का, एक भिन्न प्रसंग में, हम आज भी मुकाबिला कर रहे हैं। आज भी कितनी ही बलिष्ठ शक्तियां हैं जो केवल राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक एकता के लिए भी प्रयास कर रही हैं। लेकिन, ऐसी ताकतें भी हैं जो जीवन में विच्छेद डालती हैं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव को बढ़ावा देती हैं।

—जवाहरलाल नेहरू

मर्यादा का भाग्य योग्य व्यवस्थापक के हाथों में ही सुरक्षित रहता है। अधिकारी व्यक्ति जब अपना या अपने आस-पास का हित देखने लग जाता है, तब मर्यादा पालने वालों की दृष्टि में संदेह भर जाता है। उसकी अनिवार्यता उनके लिए समाप्त हो जाती है। व्यवस्था की कमी व्यवस्थापक के प्रति अश्रद्धा लाती है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि व्यवस्थापक की कमी से व्यवस्था वीर्यहीन बन जाती है। व्यवस्था की अप्रामाणिकता भी उसमें अश्रद्धा उत्पन्न करती है। व्यवस्था के प्रति विश्वास तभी स्थिर होता है, जब वह कभी अधिक और कभी कम साधन प्रस्तुत न करे। व्यवस्था को प्राणवान बनाए रखने के लिए उसे किसी भी व्यक्ति से अधिक मूल्य मिलना चाहिए।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

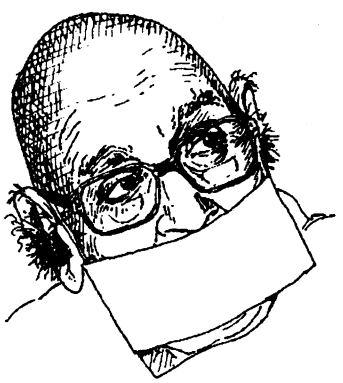

प्राणीमात्र के प्रति मैत्री हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए भय और वैर से उपरत होना होगा। अभय बनना होगा और अभय बनाना होगा। जो व्यक्ति स्वयं अभय नहीं होता, वह दूसरों को अभयदान कैसे दे सकता है? अकिंचन दूसरों को क्या देगा? दूसरों को अभय देने की घोषणा करने वाला स्वयं भयभीत रहे तो उसका क्या परिणाम आएगा? अभय देने के लिए स्वयं का भय छोड़ना आवश्यक है।

हर व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह अभय बने। कम-से-कम उन लोगों को तो अभय बनना ही है, जो धार्मिक कहलाते हैं। जो जितना भयभीत है, वह उतना ही हिंसक है। ऐसा व्यक्ति और किसी की हत्या करे या नहीं, सबसे पहले अपनी हत्या कर लेता है। जो अभय बनेगा, वह किसी के प्रति वैर-विरोध का व्यवहार नहीं कर पाएगा। ऐसा व्यक्ति न किसी को सताता है और न किसी को मारता है। उसके मस्तिष्क में भी वैर-विरोध की कल्पना नहीं हो सकती। वह व्यक्ति भय और वैर से उपरत होकर अपने गंतव्य की दिशा में प्रस्थान कर देता है।

—आचार्यश्री तुलसी

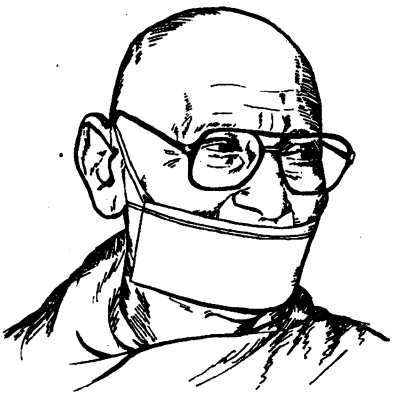

सहज प्रश्न उभरता है—जब भगवान या परमात्मा संकट में हमारी रक्षा नहीं करता, हमें बचाने नहीं आता, तब हम उस भगवान की अर्चना क्यों करें? वंदना और स्तवन क्यों करें? कहा गया—कर्तृत्व दो प्रकार का होता है—निर्वर्तक कर्तृत्व और निमित्त कर्तृत्व। यह तर्क की भाषा है। कुम्हार घड़े बनाता है, वह निर्वर्तक कर्तृत्व है। उसे बनाने की जो साधन-सामग्री है, वह निमित्त है। जैन दर्शन का परमात्मा सर्वथा उदासीन नहीं है। वह हमारा निमित्त कर्तृत्व बनता है। इतना ही नहीं, जैन दर्शन का परमात्मा अपने भक्त को अपने समान बना देता है। जयाचार्य ने लिखा—'पारस तू प्रभु साचो पारस आप समो कर देवे'। यह परमात्मा का कर्तृत्व है कि वह भक्त को अपने तुल्य कर देता है। जो परमात्मा अपने भक्त को अपने समान नहीं बनाता, वैसा भगवान हमें नहीं चाहिए। जैन दर्शन ने उस भगवान को मान्यता दी, जो भक्त को भक्त नहीं रखता, किंतु उसे भगवान बना देता है। क्या यह कम महत्त्व की बात है? क्या हम इसका कम मूल्यांकन करें?

वस्तुतः यह बहुत महत्त्व की बात है। प्रश्न यह है—परमात्मा बनने की विधि क्या है? उपासना की प्रक्रिया क्या है? उपासना का मतलब है—उपस्थिति का अनुभव करना। यह अनुभव करना कि परमात्मा मेरे सामने उपस्थित है। उसके सान्निध्य में बैठना, निकट बैठना या उसे अपने भीतर बिठा लेना। दूसरा तत्व है—स्मृति। सतत स्मृति उपासना का ही दूसरा रूप है। केवल उसी की याद रहे, और किसी की नहीं। तीसरा तत्व है तादात्म्य—'वह मैं हूं और मैं वह है'—इस तादात्म्य की अनुभूति हो जाए।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
अगस्त, 2003

प्रसंग

स्वाधीनता-सहिष्णुता

यदि यह कहा जाए कि 'मानवीय-मंगल' का ही दूसरा अर्थ स्वाधीनता है तो हम स्वाधीनता का असली तात्पर्य ठीक से समझ सकते हैं। इस दृष्टि से हम यह भी कह सकते हैं कि स्वाधीनता कोरा राजनीतिक नारा-भर नहीं, अपितु एक वृहत् जीवन-मूल्य है। स्वाधीनता की बात जब की जाती है तो कुछ और जीवनाधार भी हमारे सम्मुख विचारणीय रहते हैं, जैसे—सहिष्णुता, समरसता और सहजीविता। हम इनको तभी पा सकते हैं जब स्वाधीनता एक जीवन-मूल्य की तरह हममें व्याप्त हो। या इसके उलट भी कह सकते हैं कि जब तक मनुष्य में सहिष्णुता, समरसता और सहजीविता जैसे मानवीय गुण नहीं होंगे—वह स्वाधीन नहीं हो सकता, न स्वाधीन रह सकता है और स्वाधीनता जब एक जीवन-मूल्य बन जाएगा, तब व्यक्ति अपनी स्वाधीनता के लिए जहां सचेत रहेगा, उतना ही अन्यों के प्रति भी सजग रह सकेगा। अतः सभ्य समाज की सबसे बड़ी पहचान यह हो सकती है कि वह कितना स्वाधीन है।

हम प्राचीन विश्व सभ्यता पर दृष्टिपात करेंगे तो पाएंगे कि इस रूप में भारत निर्विवाद रूप से अग्रणी रहा है। विश्व की अन्य सभ्यताओं में अनेक पूर्वाग्रहों के रहते जिन किन्हीं देशों में वहां की तत्कालीन मनीषा को अपमान-जनक स्थितियां झेलनी पड़ी हों, पर भारत उनमें नहीं रहा। गैलेलियो, रूसो या ग्योते जैसे महान चिंतकों के साथ जो हुआ, ऐसे उदाहरण भारत में विरल ही होंगे। भले यह धार्मिक संकीर्णताओं के चलते हुआ हो, चाहे वैचारिक मत-भिन्नता के कारण—वहां के चिंतकों, मनीषियों, विचारकों को तो अपमानित, बहिष्कृत होना पड़ा, पर भारत के प्राचीन इतिहास में ऐसी घटनाएं हमें नहीं मिलेंगी।

स्पष्ट है कि भारत की परंपरा उन मानवीय मूल्यों के प्रति सदा ही सजग रही है जो व्यक्ति की अस्मिता और उसकी स्वाधीनता की रक्षा को मजबूत बनाती है। यही कारण है कि उन सभी आतताइयों के हमले भारत ने सह लिए जो उसकी इस मूल जीवन-धारा को ही नष्ट करने पर तुले रहे और कालांतर में तो उन शक्तियों को भारत की संस्कृति ने

आत्मसात ही कर लिया। हर तरह की लूट और विनाश की सब कोशिशों के बाद भी भारत की परंपरा की वह धारा प्रवहमान रही।

लेकिन प्रश्न वर्तमान का है। क्या आज भी भारत की वह धारा प्रवहमान है? क्या सहिष्णुता, समरसता और सहजीविता जैसे मानवीय मूल्य वृहत् स्तर पर खंडित नहीं हो गए हैं? क्या व्यक्ति की अस्मिता, स्वतंत्रता अब 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' भर नहीं रह गए हैं? ये सवाल व्यक्ति-इकाई की बनिस्बत समाज-स्तर पर अधिक पेचीदा होते जा रहे हैं। इनके उत्तर राजनीतिक स्तर पर तो और भी अधिक जटिल हैं, बल्कि कहना चाहिए कि तथाकथित राजनीति और उसके नेतृत्व की प्रेत-छाया समाज को इस कदर ग्रस चुकी है कि किन्हीं अन्य उपायों से उपचार होता ही प्रतीत नहीं हो रहा।

राजनीतिक दृष्टि से यदि सोचें तो ब्रिटिश हुकूमत का काल ही भारत की परंपरा को क्षत-विक्षत करने में सर्वाधिक प्रभावी रहा। शायद इसका एक कारण यह भी रहा है कि वे 'इस्ट इंडिया कंपनी' बनाकर यहां व्यापार करने के लिए आए थे। उनका इरादा शासन करने का न होकर व्यापार का रहा था। व्यापार तो हमेशा ही 'बाजार' से प्रभावित रहा है। 'बाजार' का पहला उद्देश्य सदा लाभ कमाने का ही रहता है। लाभ की प्रवृत्ति पर यदि नियंत्रण नहीं रहे तो वह 'लोभ' से संचालित होती है और पिछले डेढ़-दो सौ सालों में इसी 'लोभ और लालच' ने पश्चिम के समाज में सर्वाधिक विकृतियां-विषमताएं पैदा की हैं। यह भी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति ही रही कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास पश्चिम में जितनी तीव्रता से हुआ 'भरत-खंड' में नहीं हो सका। दुर्भाग्य यह भी रहा कि पश्चिम के बाजार ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर न केवल नियंत्रण ही जमाया, अपने लोभ और लालच के वशीभूत इनका इस्तेमाल भी उसने इन्हीं की पूर्ति के लिए सर्वाधिक रूप में किया। आज हम देख रहे हैं कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों की जकड़ राष्ट्रों की सरकारों पर कितनी मजबूत है। सरकारें मानवीय मूल्यों के लिए नहीं, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए, यानी 'बाजार' के लिए काम करती नजर आ रही हैं।

इसका असर पश्चिम में सब ओर नजर आ रहा है। सहिष्णुता, समरसता और सहजीविता का वहां लवलेश भी नहीं। एक तरह से 'बाजार' की कैद में समाज अभिशप्त है। इससे कोई वर्ग अछूता नहीं है। यहां तक कि शिक्षा, शिक्षालय और किशोर व युवा-पीढ़ी भी इसकी चपेट में हैं। अमेरिका जैसा संपन्न राष्ट्र, जो दुनिया को अपनी कठपुतली बनाना चाहता है—खुद ही हिंसा, बलात्कार, अनैतिकता और अनुशासनहीनता से त्रस्त है। अमेरिका में लाखों विद्यार्थी घातक हथियार रखने लगे हैं, स्कूली छात्राएं गर्भवती होने लगी हैं। विद्यालयों को आतंक और भ्रष्टाचार का अड्डा बनाया जाने लगा है। अलग-अलग सर्वेक्षणों से पता चलता है कि टेलीविजन के अनियंत्रित दर्शन-श्रवण से 8-10 साल का 'बचपन' किशोर व युवा उम्र तक आते-आते बीमारी, तनाव, मनोरोग और न मालूम कैसी-कैसी व्याधियों से संत्रस्त हो जाता है।

अब हम भारत पर निगाह डालें—जो भारत अपनी सभ्यता, संस्कृति और परंपरा पर विश्व-भर में सर्वोच्च रहा है, वह भी अब 'बाजार' के प्रभाव से अछूता नहीं रह पा रहा है। यह दुर्भाग्य और सोचनीय स्थिति है। इससे उबरने के उपाय जल्द-तर-जल्द होने जरूरी हैं।

भारत की प्राचीन ऋषि-परंपरा समाप्त नहीं हो गई है। भारत के मनीषी-चिंतक अभी भी विश्व की उन सब विकृतियों-विषमताओं के उपचार में योगदान की क्षमता रखते हैं। किन्हीं स्तरों पर हम मान सकते हैं कि वे उपाय वहां तक पहुंचने भी लगे हैं, जहां इनकी जरूरत है। लेकिन किसी खुशफहमी से मुक्त रहते हुए हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि उनका असर वहां बड़ा धीमा है। जबकि दूसरी ओर वहां की चकाचौंध बड़ी तीव्र है—अतः सचेत रहना जरूरी है।

ठीक इसी तरह यह देखना भी जरूरी है कि पश्चिम की विकृतियों के 'नाग-फणों' से भारत की भूमि को कैसे मुक्त रखा जा सके? इनके उपाय आध्यात्मिक स्तर पर ही खोजे जा सकते हैं। यह दुष्कर है, पर भारत का बहुत बड़ा वर्ग अभी भी धर्म और अध्यात्म के प्रभाव-असर से आबद्ध है। प्रकटतः धर्म और अध्यात्म की धारा सहिष्णुता, सहजीविता और समरसता के मानवोचित गुणों को ही अभिसिंचित करती है, पर ये गुण मनुष्य के स्वभाव का हिस्सा क्यों नहीं बन जाते, अलंकार-भर ही क्यों बने रहते हैं? अध्यात्म जगत के प्रणेताओं को अब यह देखना जरूरी है कि राजनीतिक स्वाधीनता भारत के जन-जन का जीवन-मूल्य बने और यहां का जन-मन 'बाजार' से नहीं, मानवोचित उसूलों से अभिपूरित हो।

धर्म और अध्यात्म भी अब अलंकार नहीं बने रहें, मनुष्य-स्वभाव के अंग बनें—यह भी देखा जाना चाहिए।

—शुभू पटवा

विमर्श

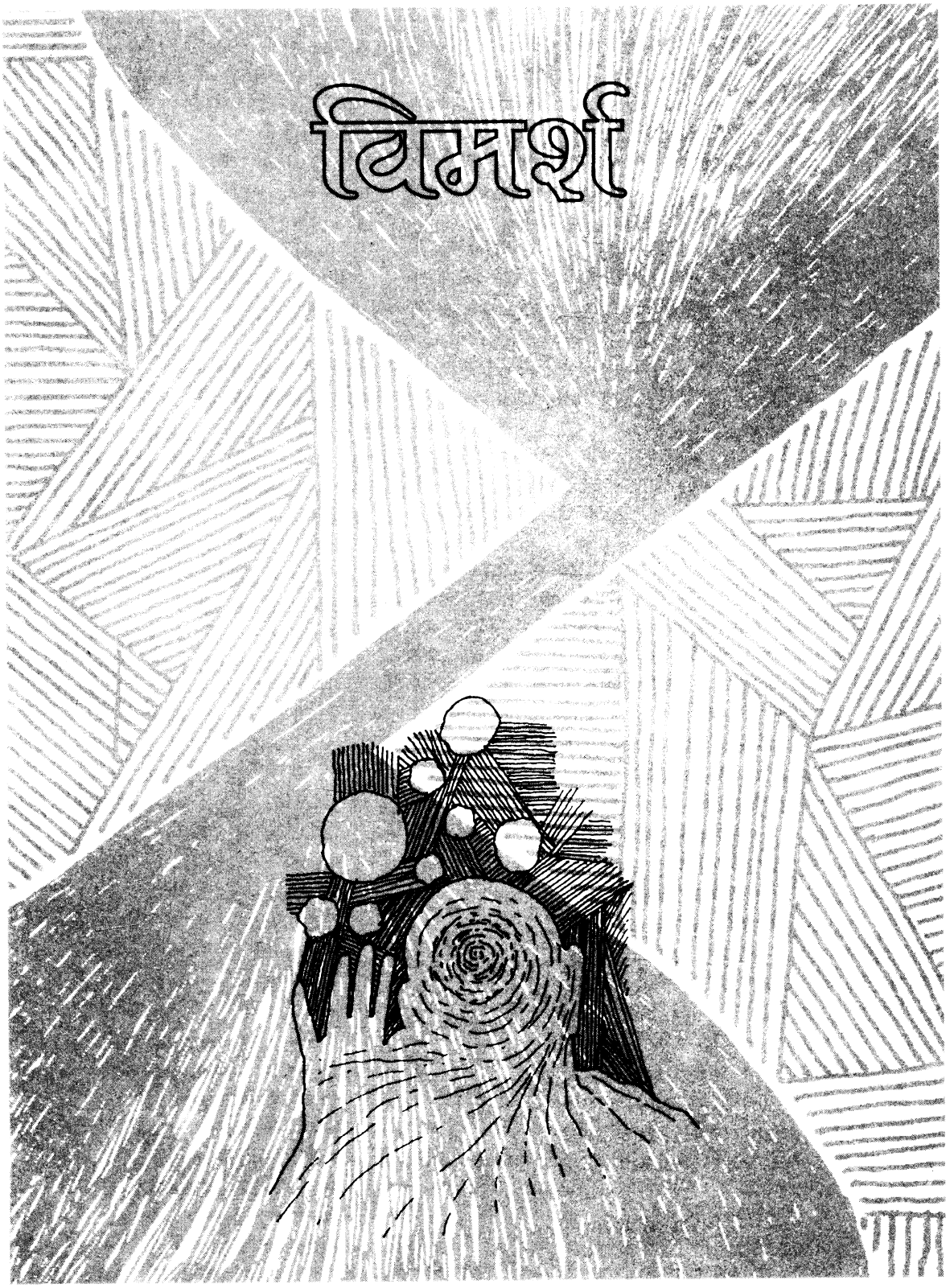

हमारी आध्यात्मिक समझ ही हमारी ताकत है। एक राष्ट्र के तौर पर हमने हमलावरों की मार-काट और उपनिवेशवाद के संहार को झेला है। हम अपने समाज में दरारों और विभाजनों के साथ सामंजस्य बैठाना सीख गए हैं। लेकिन इस प्रक्रिया के दौरान हमने अपने लक्ष्यों और अपेक्षाओं का कद कम किया है। हमें अपने विशाल दृष्टिकोण को दोबारा प्राप्त करना होगा तथा अपनी विरासत और समझ में अपने जीवन को समृद्ध बनाना होगा। प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उन्नति करने का यह अर्थ नहीं है कि हम आध्यात्मिक विकास को रोक दें। हमें अपनी आंतरिक ताकत के आधार पर विकास का अपना मॉडल इसी भूमि पर तैयार करना होगा।

—ए. पी. जे. अब्दुल कलाम

पर्व की प्रेरकता सुनिश्चित है। उसमें मनुष्य की श्रद्धा घनीभूत होती है। किंतु धार्मिकों को बांध बांधने की पद्धति विकसित करनी है।

सहज-धर्म की सत्ता में पर्व-धर्म शोभा देते हैं, अन्यथा आठ दिन के धार्मिक जीवन की शेष वर्ष के जीवन से सुचारु संगति नहीं बैठती।

पर्युषणा : मान्य अवधारणाएं

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

पर्युषणा जैन शासन का सबसे बड़ा पर्व है। समूचा जैन संघ श्रद्धा के साथ इसकी आराधना करता है। बहुत-से जैन इस पर्व को अनादिकालीन मानते हैं। यह कब से चला, इसका काल-क्रम प्राप्त नहीं है, इसलिए संभव है, इसे अनादि माना जाए। जिसका आदि न हो, वह अनादि हो सकता है। इसी तरह वह भी अनादि हो सकता है जिसका आदि-बिंदु ज्ञात न हो। कोई भी कृत या प्रचलित वस्तु अनादि अर्थ में हो सकती है कि उसका आदिकाल ज्ञात नहीं है।

पर्युषणा : वास्तविक तथ्य

भगवान महावीर ने स्थविरकल्पी मुनि के लिए दस कल्पों की व्याख्या की। उनमें एक पर्युषण-कल्प है। भगवान पार्श्व के काल में मुनियों के लिए पर्युषण-कल्प नियत नहीं था। भगवान महावीर के शिष्यों के लिए यह नियत है। भगवान महावीर ने वर्षाकाल के पचास दिन बीतने पर अर्थात् भाद्र शुक्ला 5 को वर्षावास की पर्युषणा की। इसलिए यह दिन पर्युषण का मुख्य दिन हो गया।

कुछ लोग पर्युषण-पर्व का मूल उद्गम युगारंभ में होने वाली मेघवर्षा में खोजते हैं, पर वह काल्पनिक है। पर्युषणा का जो वास्तविक तथ्य है, वह कल्पसूत्र में स्पष्ट शब्दों में निरूपित है। भगवान महावीर ने वर्षाकाल के पचास दिन बीतने पर वर्षावास की पर्युषणा क्यों की? इसके उत्तर में वहां लिखा गया है—उस समय तक गृहस्थ लोग अपने घरों को अपने लिए वर्षावास के अनुकूल बना चुके थे और अपने काम में ले चुके थे, इसलिए उपयुक्त स्थिति होने पर भगवान महावीर ने वर्षावास की पर्युषणा की।

पर्युषणा महापर्व पर विशेष

पर्युषणा : वर्तमान परंपरा

इसका अनुकरण गणधरों तथा उनके शिष्यों-प्रशिष्यों ने किया। वही वर्षावास-पर्युषणा आज की जा रही है। इसी पर्युषणा के प्रथम दिन को संवत्सरी कहते हैं। भगवान महावीर ने जो वर्षावास-पर्युषणा की थी, वह ढाई हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी घटना है। इतने लंबे काल में उसके संबंध में कई मान्यताएं और घटनाएं बदल चुकी हैं।

आज हम पर्युषणा का अर्थ समझते हैं सांवत्सरिक दिन—अर्थात् वर्ष का एक दिन। उस दिन उपवास करना, सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण करना, क्षमायाचना करना तथा विशेष धर्माराधना करना अनिवार्य माना गया है।

पर्युषण के साथ जो सात दिन हैं, वे वैसे ही हैं जैसे कि किसी भी पर्व के साथ प्राचीन काल में जुड़ जाते थे। हर महापर्व अष्टाह्निक पर्व ही होता था। पर्युषणा के बारे में जो यह धारणा है वह बहुत अर्वाचीन है। यह अनुसंधान का विषय है कि यह धारणा कब से प्रचलित हुई।

पर्युषणा : प्राचीन धारणा

प्राचीन साहित्य में पर्युषणा की धारणा इससे सर्वथा भिन्न है। उसके अनुसार पर्युषणा का अर्थ है वर्षावास की स्थिति या चातुर्मासिक स्थिति। भाद्र शुक्ला पंचमी का दिन उस स्थिति का यानी पर्युषणा का पहला दिन है। इसीलिए कल्पसूत्र में लिखा है—पर्युषणा भाद्र शुक्ला पंचमी से पहले की जा सकती है, बाद में नहीं की जा सकती। उस दिन (भाद्र शुक्ला पंचमी के दिन) तो अवश्य होनी चाहिए।

कल्पसूत्र के अनुसार यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर ने भाद्र शुक्ला पंचमी को वर्षावास की पर्युषणा

यानी वर्षाकालीन वास की स्थिति की थी। कहां यह धारणा और कहां आज की धारणा? कहां पर्युषणा वर्षावास का पहला दिन और कहां वर्षावास का पचासवां दिन? प्राचीन धारणा और वर्तमान धारणा में बहुत बड़ा अंतर है।

शाब्दिक अर्थ

पर्युषण का शाब्दिक अर्थ है निवास करना। निर्युक्ति साहित्य में इसके अनेक समानार्थक शब्द बताए गए हैं। जैसे पर्याय, व्यवस्थापना, पर्युपशमन, प्राकृतिक, परिवसना, पर्युषणा, वर्षावास, प्रथम समवसरण, स्थापना, ज्येष्ठावग्रह।

कल्पसूत्र में वर्षावास-पर्युषित मुनि के लिए अनेक मर्यादाओं के अनुपालन का विधान है।

पर्युषणा-विधि

निशीथ भाष्य चूर्णि के अनुसार वर्षावास-पर्युषणा की विधि इस प्रकार है—औत्सर्गिक विधि के अनुसार वर्षावास-पर्युषणा आषाढ़ी पूर्णिमा को की जाती है। क्षेत्र आदि का उपयुक्त योग न मिलने पर आपवादिक विधि के अनुसार वर्षावास-पर्युषणा भाद्र शुक्ला 5 को की जाती है—'ताहे भद्दवया जोण्हंसि पंचमीए पज्जोसवंति।' पर्युषणा प्रारंभ करने की आदि तिथि आषाढ़ी पूर्णिमा और अंतिम तिथि भाद्र शुक्ला पंचमी है। इस दिन सुविधा के अभाव में पर्युषणा न कर सके तो इनके मध्य श्रावण कृष्णा पंचमी को करनी चाहिए। इस दिन भी न कर सके तो क्रमशः श्रावण कृष्णा 10+15, श्रावण शुक्ला 5+10+15, भाद्र कृष्णा 5+10+15, भाद्र शुक्ला पंचमी को अवश्य करनी चाहिए। यदि अभिवर्धित संवत्सर हो तो बीसवें दिन अर्थात् श्रावण शुक्ला पंचमी (चतुर्मास में मास-वृद्धि नहीं हो तो) और यदि चंद्र संवत्सर हो तो पचासवें दिन अर्थात् भाद्र शुक्ला पंचमी को अवश्य ही पर्युषणा करनी चाहिए।

पर्युषणा की स्थापना

पर्युषणा की स्थापना पर्व तिथि को करनी चाहिए; जैसे—पूर्णिमा, पंचमी, दसमी आदि। कालकाचार्य ने अपर्व तिथि को पर्युषणा कारणवश की थी।

आषाढ़ी पूर्णिमा से पचासवें दिन पर्युषणा की स्थापना होने पर पर्युषणा (वर्षाकालीन निवास) 70 दिन की होती है। यह सर्वाल्प वर्षाकालीन निवास है।

श्रावण कृष्णा 10, अमावस्या, शुक्ला 10, पूर्णिमा तथा भाद्रपद कृष्णा 10 को पर्युषणा की स्थापना की जाती है। यह मध्यम पर्युषणा है।

आषाढ़ी पूर्णिमा से पर्युषणा की जाती है, यह ज्येष्ठावग्रह है। यह उत्कृष्ट पर्युषणा (वर्षाकालीन निवास) है।

पर्यालोचन के बिंदु

समवायांग सूत्र (समवाय 70) में जहां भगवान महावीर द्वारा पर्युषणा करने का पाठ है, वहां 'वासावासं पज्जोसवेइ'—यह उल्लेख है। इसका अर्थ है भगवान महावीर ने वर्षावास की पर्युषणा की। अभयदेव सूरि ने 'वासावासं' का अर्थ वर्षावस्थान और 'पज्जोसवेई' का अर्थ परिवास (परिवसति—सर्वथा वासं करोति) करना किया है। यह वर्षावासकालीन निवास पर्युषणा का बहुत स्पष्ट अर्थ है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य में पर्युषणा का जो स्वरूप रहा है, वह यहां प्रस्तुत किया गया है। इसे प्रस्तुत करने की प्रेरणा मुझे पर्युषणा संबंधी मतवादों से मिली। आचार्यश्री तुलसी ने भाद्र शुक्ला पंचमी को सांवत्सरिक पर्व मनाने का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया तब अनेक विचार सामने आए। कुछ लोग कहते हैं—सांवत्सरिक पर्व चतुर्थी का ही होना चाहिए तो कुछ लोग कहते हैं कि सांवत्सरिक पर्व घटिका तिथि के अनुसार होना चाहिए। पर्युषणा संबंधी आज की धारणा प्राचीन धारणा से भिन्न है। इसलिए दोनों धारणाओं में कुछ अंतर—विरोध आता है। वर्तमान धारणा की पुष्टि उन सूत्रों से की जाती है, जिनकी रचना उस प्राचीन परंपरा के लिए हुई थी। आज इस विषय पर गंभीरता से पर्यालोचना करना आवश्यक है। पर्यालोचना के मुख्य तीन सूत्र बनते हैं :

(1) प्राचीन धारणा को फिर से प्रस्थापित किया जाए?
(2) वर्तमान धारणा को व्यवस्थित रूप दिया जाए?
(3) प्राचीन धारणा के प्रवर्तक तथ्यों से वर्तमान धारणा का समर्थन किया जाए या न किया जाए?

पर्व-धर्म का मूल्यांकन

जैन तत्त्व विद्या के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को छोड़कर किसी वस्तु की व्याख्या नहीं की जा सकती। धर्म की व्याख्या भी इस चतुष्टयी के संदर्भ में ही की जा सकती है। धर्म के दो रूप हैं—सहज-धर्म और पर्व-धर्म।

सहज-धर्म : पर्व-धर्म

सहज-धर्म क्षेत्र और काल की मर्यादा से मुक्त होता है। वह सतत प्रवाही होता है। हिमालय से निकलने वाली नदियों का स्रोत अविरल रूप में बहता रहता है। बरसाती नदियां उफनती हुई आती हैं। उनके पीछे स्थाई स्रोत नहीं होता, इसलिए वे थोड़े समय बाद सूख जाती हैं। पर्व-धर्म

की तुलना बरसाती नदियों से की जा सकती है। पर्युषण एक पर्व है। उसमें धर्म की बाढ़-सी आ जाती है। किंतु पर्व की पूर्ति के साथ-साथ धर्म का स्थान खाली हो जाता है। बरसाती नदियों की उपयोगिता में कोई संदेह नहीं। बांध लेने पर उनकी उपयोगिता बन जाती है। पर्व की प्रेरकता सुनिश्चित है। उसमें मनुष्य की श्रद्धा घनीभूत होती है। किंतु धार्मिकों को बांध बांधने की पद्धति विकसित करनी है।

सहज-धर्म की सत्ता में पर्व-धर्म शोभा देते हैं, अन्यथा आठ दिन के धार्मिक जीवन की शेष वर्ष के जीवन से सुचारु संगति नहीं बैठती।

प्रवृत्ति का परिणाम

पर्युषण में धर्म की विशेष आराधना क्षमा, उपशम, आर्जव आदि सहज-धर्मों की पुष्टि के लिए हो तो वह अपने-आप में मूल्यवान है। यदि उसकी आराधना पर्व-महिमा के संस्कार से प्रेरित हो तो उसे बहुत मूल्य नहीं दिया जा सकता। पर्व-धर्म का स्रोत सहज धर्म के स्रोत में मिल जाए, यही उसकी मूल्य-वृद्धि का उपक्रम है। अधर्म की नदी हमारे जीवन के धरातल में बह रही है, वह न हमें दिखाई देती है और न किसी दूसरे को। हम जब कुआं खोद डालते हैं तब उसका जल ऊपर आ जाता है। वह दृष्ट अधर्म है। एक आदमी दूसरे आदमी को कष्ट देता है। उसका मूल दृश्य प्रवृत्ति में नहीं है। हर प्रवृत्ति अपनी पूर्व प्रवृत्ति का परिणाम होती है। जिसके जीवन की गहराई में कषाय का स्रोत बहता है, वही आदमी परिस्थिति या बाह्य निमित्तों से प्रभावित होकर दूसरों को कष्ट दे सकता है।

तेरापंथ एक ओर जहां अपनी परंपरा, आचार-संहिता और मर्यादाओं के प्रति दृढ़ आस्थाशील है, वहीं दूसरी ओर विवेकसम्मत उदारता और परस्परता के लिए भी जाना जाता है। जैन समाज के पर्युषणा-संवत्सरी महापर्व के एक-रूप के लिए तेरापंथ ने जिस उदारता और परस्परता का परिचय दिया वह जग-जाहिर है। संवत्सरी-पर्युषणा महापर्व दिवस समग्र जैन समाज एक ही दिन सुनिश्चित करे—इस कार्य में तेरापंथ की भूमिका कालांतर में सर्वाधिक उदारता और समत्व-भरी रही। इसी आधार पर संवत्सरी पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन रखा जाता रहा। इस एकत्व के लिए तेरापंथ आज भी किसी से पीछे नहीं, पर एकत्व का यह कार्य सभी की सहभागिता से ही संभव हो सकता है। इसे दृष्टिगत रखते हुए संवत्सरी महापर्व परंपरानुसार इस बार भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को सुनिश्चित हुआ है। तेरापंथ सर्वानुमति के आधार पर एकत्व के लिए पूर्व की तरह भविष्य में भी सदैव तत्पर रहेगा।

आराधना का परिपूर्ण मार्ग

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि जितने भी प्रवृत्त्यात्मक अधर्माचरण हैं, उन सबका मूल गहराई में रहता है। हम लोग परिणामात्मक प्रवृत्ति को त्यागना चाहते हैं और त्यागते हैं। किंतु कारणात्मक प्रवृत्ति का परित्याग हुए बिना क्या परिणामात्मक प्रवृत्ति त्यागी जा सकती है? इसका अर्थ त्याग की कदर्थना नहीं है। दृश्य प्रवृत्ति का त्याग धर्म की आराधना का परिपूर्ण मार्ग नहीं है। दृश्य और अदृश्य, कारणात्मक और परिणामात्मक—दोनों प्रवृत्तियों के निरोध की प्रक्रिया हम समझें तभी धर्माराधना की सम्यक् दृष्टि हमें प्राप्त हो सकती है।

धर्म की सहज अनुभूति क्यों नहीं?

विषयों का त्याग दृश्य जगत से संपर्क विच्छिन्न करना है। हम आंख बंद कर लेते हैं, रूप से हमारा संपर्क विच्छिन्न हो जाता है। हम कान बंद कर लेते हैं, शब्द से हमारा संपर्क विच्छिन्न हो जाता है। हम अनशन कर लेते हैं, इससे हमारा आहार से संपर्क विच्छिन्न हो जाता है। संपर्क-विच्छेद से नई वासनाओं और नए संस्कारों का निर्माण नहीं होता। किंतु इस प्रक्रिया से वासना का स्रोत नहीं सूखता। उसे सुखाने के लिए अध्यात्म की अग्नि का प्रज्वलन अपेक्षित है। आज धर्म अध्यात्म से अनुप्राणित नहीं है। बाह्य स्रोत आंतरिक स्रोत से संयुक्त नहीं है। यही कारण है कि धार्मिक को धर्म की सहजानुभूति नहीं है।

सत्य की समग्र भूमिका

अध्यात्म का अर्थ है—आत्मा की गाढ़ अनुभूति और गाढ़ साहचर्य। निश्चयनय के अनुसार यही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। हम व्यवहार की भूमिका को भुला नहीं सकते। जहां निश्चय और व्यवहार—दोनों विच्छिन्न होते हैं, वहां सत्य की हत्या हो जाती है। जहां निश्चय का विच्छेद हो जाता है, वहां सत्य की डोर हमारे हाथ से छूट जाती है। जहां व्यवहार विच्छिन्न होता है वहां सत्य की क्रियान्विति निःशेष हो जाती है। सत्य की समग्र भूमिका यह है कि निश्चय और व्यवहार—दोनों में सामंजस्य स्थापित किया जाए। व्यवहार की भूमिका में पर्व-धर्म का महत्त्व कम नहीं है। किंतु उसका महत्त्व तभी है जब उसका स्रोत सहज-धर्म के स्रोत से विच्छिन्न न हो। ❖

शोषण के लिए शुद्ध शब्द 'हिंसा' है। वह इतना सूक्ष्म और व्यापक तत्त्व है कि अमुक राजनीतिक क्रांति या दूसरे तरह के 'प्रोग्राम' से उसका निदान व समाधान हो जाएगा—यह मानना अपने को सिर्फ बहका व भरमा लेना-भर है। बड़ी कठिन, दुर्द्धर्ष और जीवनव्यापी साधना है—यह हिंसा से लड़ना और अहिंसा की मानव-संबंधों में प्रतिष्ठा करना। जब उस पर चलेंगे, तो मालूम होगा कि शोषण को समाप्त करना कोई निरा आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है; बल्कि उसके अंग में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इत्यादि भी अनिवार्य होते हैं।

अहिंसा—मानव सभ्यता और आक्रमण

❑ जैनेंद्र कुमार ❑

मानव-समाज मूलतः स्त्री और पुरुष नाम के दो वर्गों में बंटा हुआ है। कहते हैं, हर व्यक्ति में दोनों तत्त्व मौजूद हैं। उनके अनुपात की अधिकता से स्त्री अथवा पुरुष हुआ करते हैं। अब मनोविज्ञान में दो शब्द चलते हैं 'सैडिज्म' (Sadism) और 'मैजोकिज्म' (Masochism)। इन दोनों शक्तियों के बीज भी हर व्यक्ति में हैं। हमारे काम के लिए अर्थात् विचार के अवगाहन के लिए, इस मौलिक वर्ग-भेद से चलना अधिक विश्वसनीय होगा।

मान लीजिए, शोषक माने गए वर्ग का एक व्यक्ति है—समझिए पूंजीपति। उसका परिवार पूरा-का-पूरा शोषक-वर्ग का ठहराया जाता है। लेकिन हमें क्या मालूम कि उस घर की हालत क्या है? वहां पति द्वारा पत्नी का शोषण बड़े मजे से चल रहा हो सकता है, बल्कि होता ही है। तथ्य यह है कि जब इस 'शोषण' को हम सामाजिक वर्गों में बिठाकर देखते हैं, तो परिणाम राजनीतिक कर्म होता है, अर्थात् वर्ग-विद्वेष की बुनियाद पड़ती है। उस तरह शोषण की जड़ हाथ आ जाती है—ऐसा मैं नहीं मानता हूं।

सच यह है कि आदमी अनुभव में उतरे, तो वह ठीक तरह अपने को किसी वर्ग में रख नहीं सकेगा। लखपति एक ओर करोड़पति का बोझ अपने ऊपर अनुभव करता है, दूसरी ओर अपने को सहस्र अथवा अन्य पतियों—दीन-हीन जनों के ऊपर बैठा हुआ पाता है। किसी स्तर पर भी कोई उन नीचे और ऊपर के—दोनों दवाबों से मुक्त नहीं है। नेता चोटी पर दीखता है, लेकिन अनुयाइयों का कितना दबाव उस पर है, यह वही जानता है। वर्गों के बीच में ही इस हिंसा-तत्त्व को विराजमान बनाकर देखना, मानो उसे अपने से दूर डालकर देखना है। उस दर्शन से संभव हो सकता है कि शोषण मिटाने की चेष्टावाला दल या व्यक्ति ही स्वयं प्रचंड शोषण का साधन बन निकले! अधिकांश ऐसा ही हुआ है। अमुक दमित वर्ग हिंस्र क्रांति के जोर से जब शास्तावर्ग बन बैठा है, तब मालूम हुआ कि कालांतर में उसी को त्रासदाता वर्ग का रूप अपनाना हुआ।

वर्गों में और उन स्तरों में ही नहीं है, बल्कि शोषण उससे कहीं अधिक व्यापक है। यानी परस्पर संबंधों की प्रणालियों में, समाज के सारे ताने-बाने में है। उसकी इकाई के रूप में वर्ग या श्रेणी को मानना राजनीति के प्रयोजन के लिए काफी हो, विचार और विज्ञान के लिए काफी नहीं है। वह इकाई सर्वथा ठहराई और मानी हुई है और नित्यप्रति के व्यवहार में उसका सामना लगभग नहीं होता है। जो प्रत्यक्ष और अनुभूत है, वह वैयक्तिक धरातल पर है और व्यक्तिगत संबंधों के द्वारा प्रकट होता है। उनके ऊपर होकर जिन श्रेणी इकाइयों की धारणा हम जमाते और जिन पर फिर अपने सामुदायिक व्यवहार को चलाते हैं, वे सापेक्ष धारणाएं होती हैं। उनमें सत्यता को पकड़ और बांधे रखने की चेष्टा से हित के बजाय अहित होने लगता है। सत्यता उनकी सापेक्ष है और उस सापेक्षता और मर्यादा को कभी भूलना नहीं चाहिए।

अहिंसा को परम धर्म अंगीकार कर लेने से लोक-जीवन की यह आवश्यकता अनायास सिद्ध हो जाती है। तब

श्रेणी और वर्ग की धारणा भी मदद कर जाती है, नुकसान नहीं कर पाती। शोषण के लिए शुद्ध शब्द 'हिंसा' है। वह इतना सूक्ष्म और व्यापक तत्त्व है कि अमुक राजनीतिक क्रांति या दूसरे तरह के 'प्रोग्राम' से उसका निदान व समाधान हो जाएगा—यह मानना अपने को सिर्फ बहका व भरमा लेना-भर है। बड़ी कठिन, दुर्द्धर्ष और जीवनव्यापी साधना है—यह हिंसा से लड़ना और अहिंसा की मानव-संबंधों में प्रतिष्ठा करना। जब उस पर चलेंगे, तो मालूम होगा कि शोषण को समाप्त करना कोई निरा आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है; बल्कि उसके अंग में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इत्यादि भी अनिवार्य होते हैं।

अमुक वर्ग या श्रेणी का उन्मूलन, ऊपर की बात के बाद, उतना आवश्यक और यथार्थ नहीं दीखेगा। उन्मूलन जब सचमुच हिंसा का या शोषण का होता है, तो उसमें किसी का नाश नहीं होता है, सिर्फ उनके संबंध में पड़े हुए जहर को ही समाप्त करना होता है। जहर मिटने पर फिर तो अंतर और भेद भी प्यारा होने लग सकता है। अंतर ही बीच में अगर न हो, तो स्नेह और प्रेम के संचार के लिए भी अवकाश नहीं बचता है? प्रेम के नाते बड़ा-छोटा और ऊंच-नीच भी यदि हो तो अखरेगा नहीं, बल्कि जीवन को समृद्ध और संपन्न करता जान पड़ेगा। मां को कैसे इससे रोका जा सकता है कि वह बेटे की अपने से ज्यादा चिंता करे और उसके सुख के लिए अपने को निछावर करती रहे। प्रेम की अन्यथा गति नहीं है, तृप्ति नहीं है। प्रेम में हम अपने को नीचे और प्रेम-पात्र को ऊंचे पर ही रखकर संतोष पाते हैं। इस तरह किसी का भी उन्मूलन आवश्यक नहीं ठहरता है। बल्कि एक भी विविधता व विचित्रता को कम करना जगत की शोभा को कम करने जैसा हो जाता है। अहिंसा का आधार यही है। अनिष्ट हिंसा है—मिटाना उसको है। दुश्मनी मिटाने के लिए जब-जब दुश्मन को मिटाया गया है, तो पता चला है कि दुश्मनी बढ़ी है, मिटी जरा भी नहीं है। मिटाने की उस इच्छा में ही भ्रांति है, दोष है। अधूरापन है—उस दृष्टि में जो रोग के मूल तक नहीं जाती, सिर्फ ऊपरी चिह्नों को मिटाने में गौरव अपना लेना चाहती है। इतिहास बताता है कि ऐसी अधूरी इच्छा को लेकर चलने वाले क्रांतिकारी कुछ ही दूर चलने पर फिर पीछे भोगवादी, अवसरवादी, शासनवादी, दुनियाबाज हो गए हैं। तुलना में जिसकी क्रांति की आग मृत्यु के क्षण तक उसी तरह जलती रही है, उसको हम देखें और समझेंगे तो, यह अंतर स्पष्ट हो जाएगा।

वर्गहीनता से हमारा क्या आशय है? क्या यह कि कभी सब लोग एक ही काम करेंगे, एक-से मकानों में रहेंगे, एक-सा खाना खाएंगे? तो यह चित्र मनोरमता के लिए हो सकता है, संभवता के लिए नहीं। स्पष्ट है कि जीवन के विविध व्यापार रहेंगे। सच्ची वर्गहीनता में किसी व्यक्तित्व की संभावनाएं नष्ट न होंगी और सभी अपनी विलक्षणता में खिलने का अवसर पाएंगी। वहां जो होगा वह यह कि पैसा रहा भी तो उसमें व्यवहार को सुगम करने की ही शक्ति होगी, उससे अधिक किसी दबाव या अभाव की सृष्टि करने की शक्ति नहीं रहेगी। इसी प्रकार राज्य या शासन यदि होगा, तो व्यवस्था की सुविधा जितना ही होगा, दमन वह नहीं लाएगा। हिंसोपकरणों के सहारे की—जैसे अस्त्र-शस्त्र-सैन्य इत्यादि उपकरणों की जरूरत उसे न होगी। हिंसा की प्रेरणा और उसके साधन उतनी ही मात्रा में जरूरी होते हैं, जितना समाज के पास अहिंसक शक्ति-प्रेरणा का अभाव होता है। वर्गहीन समाज वह समाज होगा जो प्रेम की शक्ति से चलेगा और किसी को मानने का अवकाश न होगा कि वह शोषित या शोषक है। सब परस्पर पूरक अनुभव करेंगे और परस्पर की पूर्णता में सहायक होंगे। इस समाज को 'वर्गहीन' संज्ञा देकर यह मानना कि कोई विविधता वहां कम होगी—वर्गहीनता को न समझना है। आज का शासक या शोषक-वर्ग क्या चैन से रहता माना जा सकता है? चैन से यदि वह रह सकता है तो तभी जब शेष सारा समाज उसके प्रति प्रीति या विश्वास रखे और यदि यह प्रीति या विश्वास हो, तो क्या शासक अफसर जैसा रह जाएगा? वह पूरी तरह सेवक ही बना हुआ क्या न दीखने लगेगा?

कहने का आशय यह है कि वर्गहीनता के लिए वर्गों को मिटाना नहीं है, बल्कि संबंधों में उस सहयोगिता और स्वस्थता को लाना है जिनमें वर्ग-चेतना ही अनावश्यक हो जाए। वर्ग-चेतना जैसी चीज जहां अकारण और असंभव होगी, उसी समाज को वर्गहीन कहा जाएगा।

परंतु हिंसक क्रांति करने वालों का अधिकार कोई चाहे तो भी कम नहीं कर सकता है। कम इसलिए नहीं कर सकता कि उन्हें एक अंदर की विवशता चलाती है। लेकिन हिंसक क्रांति हिंसा को दूर नहीं कर सकती। इसको बताने के लिए बड़े तर्क की जरूरत नहीं होनी चाहिए। परिस्थिति से चेतना बनती और उपजती है, यह मान भी लें, तो परिस्थिति क्या सिर्फ स्थान-भेद का नाम है? 'अ' ऊपर है, 'ब' नीचे है; तो क्या 'अ' को नीचे लाने से और 'ब' को ऊपर कर देने से मान लिया जाए कि परिस्थिति बदल जाती है? मैं मानता हूं कि परिस्थिति का सार-सत्य यह नहीं है कि कौन कहां है; उसकी वास्तविकता तो इसमें है कि जो-जो जहां हैं, उनके बीच के संबंधों में क्या तत्त्व प्रवहमान हैं? उस समूची

परिस्थिति का परिवर्तन स्थानांतरण-मात्र से नहीं हो जाता है। राजनीतिक क्रांति उसको महत्त्व देती है और जहां जब-जब क्रांति राजनीतिक ही रह गई है, वहां वह होने के साथ बिगड़ भी गई है। टिकी है तो तब, जब वह राजनीतिक से आगे सामाजिक-आर्थिक होने की ओर बढ़ी है। अर्थात् केवल स्थानांतरण से आगे उसने मानव-संबंधों पर ध्यान दिया और उनके जहर को काटा है। मानव-संबंधों की भूमिका पर जब भी आप उतरेंगे, तो देखेंगे कि स्थान का विचार ही पर्याप्त नहीं है, मनोभावों का भी विचार आवश्यक है। मानो मन में पड़ा हुआ हेतु तब उतना निरर्थक नहीं रह जाता। कर्म के द्वारा मन की प्रेरणा का बाहर की स्थिति के साथ संबंध जुड़ता है। कर्म कोई ऐसा हो ही नहीं सकता, जो केवल स्थिति-परिस्थिति से बन जाए और दूसरे सिरे पर मानव-मन से उसका संबंध आए नहीं। हर इतिहास, हर सिद्धांत, हर भाग्य मानवों के माध्यम से संपन्न होता है और इसलिए मानव-मन के साथ उसका संबंध आता ही है। परिस्थिति से चलाकर किसी तर्क को नीति से विमुक्त मान लेना चल नहीं सकता और चलाते हैं तो खतरे से खाली नहीं हो सकता।

हिंसा और अहिंसा के विचार को तात्त्विक भूमिका पर हम न लें। वहां तो उसे टाला जा सकता है। उस टालने से नुकसान भी कुछ नहीं होता। लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार में गर्भित हिंसा और अहिंसा की बात को तात्त्विकता में उलझाकर उस संबंध में जब हम उदासीन व निरपेक्ष हो जाते और हिंसा को उचित और अनिवार्य ठहरा लेते हैं, तो एक तरह से हम नशे का सहारा लेते और पूरी तरह सचेत और जागृत होने से बचते हैं। अपने प्रति और इसलिए दूसरों के प्रति भी अन्याय किए बिना हिंसक कार्यक्रम को अपनाया और उठाया नहीं जा सकता। बहुतेरे ग्रंथ हैं, जिनमें पूरी सहानुभूति से ऐसी कार्य-योजनाओं को चित्रित किया गया है। उनमें, हर एक में, यह दीखे बिना नहीं रहता कि किस प्रकार क्रांतिकारियों को अपने प्रति अन्याय करते हुए चलना पड़ता है। नैतिक से व्यक्ति मुक्त नहीं है। हिंसक कार्यक्रमों में जब वह चलता है, तब मानो उसे हठात् उस सब अनिवार्यता से छुट्टी बनाकर ही चलना पड़ता है। परिणामतः विभक्तता का शिकार होकर अंत में उनके व्यक्तित्वों को टूटना और बिखरना पड़ जाता है। ऐसा नहीं भी होता, तो वे बेहद कस आते हैं और भीतर कसमसाते रहते हैं। इसलिए, हिंसा के उपाय से होने वाली क्रांति को मुक्ति और शांति का द्वार मैं नहीं मान सकता हूं।

इसके सिवा हिंसा का एक और भी रूप है। वह है 'आक्रमण'। आक्रमण का जबाव अहिंसा कैसे दे?

आक्रांता से सिर्फ आक्रमण करते हुए व्यक्ति का चित्र मन में उठता है। मानो आक्रांत, आक्रांता ये दोनों परस्पर सम्मुख और संयुक्त हो आए हैं तो केवल उस आक्रमण की क्रिया और क्रम से। पर वास्तव में ऐसा नहीं होता है। आक्रांत व आक्रांता के संबंधों का सदा कुछ इतिहास हुआ करता है। पहले से उनकी संबद्धता चली आती है। इन संबंधों में नाना प्रकार की उलझनें हो सकती हैं। अक्सर तो यही होता है, कभी-कभी यह भी हो सकता है कि संबंध का इतिहास कोई नहीं है, अकस्मात् आक्रमण हुआ है। मान लीजिए कि रेल के डिब्बे में आप अकेले हैं और सिर्फ लूट की इच्छा से कोई एकदम अपरिचित आप पर हमला करता है। इन अनेक उदाहरणों में आप की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है। पहले तो यह इस बात पर निर्भर करता है कि आप क्या हैं, यानी आक्रांत जिसको कहा गया है—वह क्या है? फिर वह निर्भर करती है आक्रांता के साथ उसके संबंध पर।

अहिंसा के पास हिंसक आक्रमण का कोई जवाब नहीं है, यह मान लेना शक्ति को हिंसा में बंद कर देना होगा। लेकिन हम देखते हैं कि प्रकृति में मनुष्य जीता है, सिंह हारा है। आक्रमण सिंह करता है और वह उसी एक विधि को जानता है। मनुष्य यदि शेर पर विजय पाता है, तो इसलिए कि वह आक्रांता नहीं है, उससे कुछ अधिक है। शेर को खत्म करने के अलावा भी शेर के बारे में मनुष्य कुछ सोच सकता है। यह अतिरिक्तता ही मनुष्य का बल है और निश्चय ही यह हिंसा का बल नहीं है। मनुष्य के पास केवल हिंसा का बल रह जाता, अगर वह शेर से सिर्फ डर ही सकता। हिंसा वही है और उतनी ही है, जितना डर है। मनुष्य शेर के संबंध में डर को जीत भी पाता है। परिणाम यह है कि वह शेर को लेकर सरकस में खेल भी दिखा सकता है। सरकस के खेल से आगे की भी कहानियां हैं। वास्तव में घटनाएं हैं—जब मनुष्य ने शेर को मारने की भाषा में सोचा ही नहीं है, बल्कि साधकर उसे अपना साथी बना लिया है।

प्रायः हम यह मान लेते हैं कि बचना जरूरी है, मृत्यु से डरना जरूरी है। इस डर के नीचे होकर विचार करने से जान पड़ता है कि मुकाबले के लिए हिंसा का बल, अर्थात् प्रत्याक्रमण ही उपाय रह जाता है। डर के रहते सचमुच उपाय वही है और उसे अपनाने में झिझक नहीं होनी चाहिए। वह डर और भी नपुंसक और निकम्मा है, जिसमें से हिंसा की हिम्मत तक नहीं निकलती। निडरता तो बढ़कर है ही, लेकिन निडरता की श्रेणियां हैं। सबसे पक्की निडरता

प्रेम में से आती है। गांधी-ईसा की कहानियों में निडरता का वही रूप है। वह कोमल रूप है, उद्धतता का उसमें रंच भी अंश नहीं है। उससे उतरकर जो निडरता दीखती है, वह कड़ी पड़ती जाती है। कहा जा सकता है कि उसमें उसी सूक्ष्म मात्रा में प्रेम की जगह अप्रेम अथवा दूसरे शब्दों में भय, मिलता जाता है। इस सिरे पर प्रेम की निर्भयता और दूसरे सिरे पर भय की कातर कायरता के बीच में नाना प्रकार के व्यवहार हैं, जो आक्रमण के उत्तर में संभव बन सकते हैं।

आक्रमण डर में से होता है और डर पैदा करने के लिए होता है। यह स्पष्ट है कि डर ही है जो उसे जीत या हरा नहीं सकता। निडरता से ही कुछ जवाब़ दिया जा सकता है, जो आक्रमण को जवाब जैसा मालूम हो। हिंसक प्रत्याक्रमण में भी कुछ अंश में निडरता का समावेश होता है। बारीकी से देखेंगे, तो मालूम होगा कि यह निडरता अहिंसा में से आती है। डर घोर होता है, तो कायर बनता है। नीचे हममें कुछ सप्राणता होती है, तो वह डर को छूकर फिर उसे हिम्मत के रूप में आगे ठेलती है। यह सप्राणता मूल में प्रेम के रूप का नाम है।

स्त्री यों कायर होती है, लेकिन बच्चे की ममता को लेकर वार का जवाब देने की दिलेरी उसमें आ जाती है। बच्चे की जगह व्यक्ति में कोई दूसरा प्रेम भी काम कर रहा हो सकता है। अर्थात् कुछ ऐसी वस्तु, जिसके समक्ष व्यक्ति के लिए अपनी जान की परवाह तुच्छ बन जाती और मौत की बाजी आसान हो जाती है।

आक्रमण लोभ में भी होते हैं। छोटे-छोटे नहीं, बड़े-से-बड़े इतिहास के आक्रमण तक लोभ में हुए हैं। विजेता जिन्हें कहा जाता है वे छोटी प्रेरणाओं से नहीं चलते, महत्त्वाकांक्षाएं उन्हें चलाती हैं। यहां तक कि यही नहीं कि भय और लोभ उनमें नहीं दीखता, बल्कि निर्भयता और निर्लोभ दीख आता है। अलेक्जेंडर के पास या चंगेजखां के पास क्या कमी थी? किसका भय या किसका लोभ था कि वे दूर-दूर तक धावा बोलते चले गए? उनकी जय-यात्राओं को भय-लोभ से जोड़ना मुश्किल हो जाता है। ओज और तेज है, शौर्य और वीर्य है—जो उन्हें आक्रांता बनाता है। महाहिंसा की बाढ़ पर मानो वे ऐसे चढ़े हुए चलते हैं कि 'हिंसा' उन्हें छूती ही न हो! वे जैसे इतिहास से ही प्रेरे हुए हों और पराशक्ति से चल रहे हों।

मैं उन बड़े उदाहरणों के विश्लेषण में नहीं जाऊंगा। उनको अनुभूति द्वारा मैं पकड़ नहीं पाता हूं। लेकिन लोभ में भय का अंश रहता है और महत्त्वाकांक्षा के नीचे अहं का हीनभाव शायद दुबका हुआ देखा जा सकता है। आवश्यक नहीं है कि यह हीनभाव व्यक्तियों को लेकर हो, समष्टि को लेकर भी हो सकता है। महान चेतनाएं इसी दबाव के नीचे काम करती हैं, उद्दीप्त पौरुष यहीं से जन्म लेता और यहीं से महिम्न दिव्यभाव सृष्टि पाता है।

पहले के प्रतीक हैं रावण, तो दूसरे भाव की प्रतिमा हैं राम। समष्टि के प्रति व्यक्ति में यह जो अगाध व्यवधान है, उसको प्रेम और भक्ति से जो भर पाता है—वह भय से उबर जाता है। परिपूर्ण भक्ति में भक्त स्वयं में भगवद्-रूप हो जाता है। इस अंतराल को भरने के लिए प्रेम का प्रसाद जिसके चित्त को प्राप्त नहीं होता, वह मानो दमित और भयभीत, अपने अहंकार को लेकर इधर-से-उधर दहाड़ता और पछाड़ता हुआ दौड़ता फिरता है। जाने वह क्यों लड़ रहा है? मानो समय की और विस्तार की अनंतता उससे झेली नहीं जाती। डर होता है और वह उस डर में ही ये सारे उत्पात करने को विवश हो जाता है।

सूक्ष्म लोभ और सूक्ष्म भय होता ही है उसमें, जो अकारण आक्रमण करता दीखता है। इस हिंसा में उसे कोई हिंसा दीखती ही नहीं, जैसे वह स्वप्न में चलता है और व्यवहार की विवशताओं से कहीं उत्तीर्ण ही बना रहता है।

इतिहास की ऐसी निर्वैयक्तिक शक्तियों से बचने का अहिंसक उपाय, प्रत्याक्रमण या बचाव न हो सकता है, न हुआ है। ऐसा लगता है कि नैतिक शक्तियां ऐतिहासिक के आगे बेकार हो गई हैं और यह अतर्क्य नहीं है।

इन ऐतिहासिक महाशक्तियों को प्रकट करने वाले व्यक्तियों के तल में जो अपनी ही अनंतता का डर और अपने अहं की अनंतता का लोभ विद्यमान होता है, उस कारण उन्हें अंत में हारना भी पड़ता है। लोग कहते हैं, भाग्य से वे हारते हैं। पर शायद वे स्वयं अनुभव करते होंगे कि वे अपने से ही हारते हैं। जय उनके लिए जय जैसी रह नहीं जाती। अहं की सीमितता उन्हें काटती और खाती रह जाती है और चारों ओर का यह अगाध विस्तार उन्हें लीलता-सा मालूम होता है। यह हार उनके अंदर बैठी रहती है और उसी से वे लड़ा करते हैं। लेकिन अलेक्जेंडर के सामने अगर आ जाता है डायोजिनिस, जिसमें चाहे स्नेह न हो, पर भय या लोभ तो और भी नहीं होता, तो अपनी ही हार क्षण के लिए उसे रस और समाधान-सा दे आती है!

अलेक्जेंडर कहता है—'मैं यह सम्राट सामने हूं। बोलो, क्या चाहते हो?'

डायोजिनिस कहता है : 'हट कर एक तरफ खड़े हो, धूप छोड़ दो।'

अलेक्जेंडर स्तब्ध रह जाता है। जैसे एक अनुभूति भीतर तक उसे कौंध जाती है। लगता है उसे और कुछ नहीं करना है, बस एक ओर हट जाना है, धूप को दुनिया के लिए छोड़ देना है!

डायोजिनिस का यह निर्लोभ—क्या अलेक्जेंडर को परास्त नहीं कर गया? अगर डायोजिनिस में दार्शनिक तटस्थता ही न होती, बल्कि बुद्ध की अनुकंपामय ममता भी होती, तो अलेक्जेंडर विजेता से विनत बन गया होता कि नहीं, यह अनुमान की बात है। लेकिन परिपूर्ण प्रेम की निर्भीकता और निर्लोभता के समक्ष दुर्दांत-से-दुर्दांत आक्रांता परास्त हो सकता है और होकर धन्य भी हो सकता है, ऐसा मैं मानता हूं।

अहिंसा और प्रेम का सपना पूरा यानी खत्म कभी न होगा। लेकिन वह सपना संकेत हमेशा और जरूर देता रहेगा। सपना कहकर जब उस संकेत को भी हम टालते हैं, तो संकट को ही निमंत्रण देते हैं।

हिंसा-अहिंसा किसी निश्चित रूप और कृत्य के नाम नहीं हैं। यदि हम मानव की गति और उसके विकास को हिंसा से अहिंसा की दिशा में न मानें तो इसी क्षण सब-कुछ व्यर्थ और अहेतुक हो जाता है। संपूर्ण अहिंसा का व्यवहार कल्पना तक में यदि स्पष्ट नहीं हो पाता है, तो इसका अर्थ हिंसा का समर्थन नहीं बना लेना चाहिए। मनुष्य में से पशुता घटते रहने के लिए सदा शेष रहती चली जाएगी। इसमें से पशुता को समर्थन नहीं मिल जाता है। बल्कि पशुता से निवृत्ति उतनी ही मानवता का लक्षण बनी चली जाती है।

इतिहास में हिंसा का अंधकार मिलेगा। लेकिन अगर वह अंधेरा थोड़ी देर के लिए भी कटा दीखा, तो उस ज्योति को इतिहास फिर भूल नहीं सकता है। उसे ज्योति के रूप में मानता रहा, इसी में इतिहास के लिए सांत्वना और आशा के तत्त्व मिल जाते हैं। अंधकार को ज्योति का अभाव ही हम मान सकते हैं। अभाव नियम नहीं हो सकता। अभाव भरता है, नियम यह है।

स्वयं युद्धों के रूप को ही लें। उनका रूप विशालतर और विकट से विकटतर होता गया। लेकिन सूक्ष्मता में जाने पर देखेंगे कि इस विशालता और विकटता के नीचे कुछ उसके नियम और नियंत्रण भी अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति में विकास पाते चले गए हैं। युद्ध में ही सही, दुनिया के देश ऐसे एक-दूसरे के परिचय में आए हैं। विश्व-व्यवस्था जैसी चीज प्रकट हुई है और यह दर्शन सुलभ और व्यापक हो गया है कि सब परस्पर अंतःप्रभावित और अन्योन्यनिर्भर हैं। सारे विश्व का शरीर अब अपने को एकत्र और एकात्म अनुभव करता है। एक स्थल पर क्षति प्रकट होने पर जैसे समस्त शरीर में से रक्त उस ओर दौड़ पड़ता है। हिंसा के रक्त-रंजित दृश्यों के पीछे जो हठात यह एकता और एकत्रितता घटित और संपन्न होती चली जा रही है, उसे हम सहसा देखा-अनदेखा कर देते हैं। हिंसा फटती और फूटती है तब दीखती है। अहिंसा अलक्ष्य भाव से जो हमारी परस्परता को घनिष्ठ, व्याप्त और ठोस बनाती जा रही है, सो उसका लेखा हमारी बाह्य-इंद्रियां सहसा ले नहीं पातीं। उसको प्रज्ञा की आंखों से देखना होता है। यह प्रक्रिया अनिवार्य यद्यपि अदृश्य रूप से मानव-जीवन के इतिहास में से घटित होती चली आई है। ऐसा न होता, तो इतिहास कभी का बंद हो गया होता।

आज अणुशक्ति प्रकट हुई है और उसकी पहली सार्थकता अणुबम के रूप में हमने पहचानी है। जाहिर है कि भीषण संहारशक्ति उसमें है और वह हिंसा का दारुण उपकरण है। लेकिन इस आविष्कार से दुनिया खुली आंखों देख आई है कि मन की तनिक विकृति किस तरह सारे संसार को ध्वस्त कर सकती है। अर्थात् हिंसा का भाव कितना घातक और अहिंसा का विचार कितना आवश्यक है। धर्मशास्त्र और साहित्य-दर्शन इतने काल से जिसको मानव-मन के निकट-प्रत्यक्ष नहीं कर पाए थे, हिंसक कहे जाने वाले इस आयुध के आविष्कार ने वह पाठ विश्वमानव के मर्म में एक ही साथ उतार दिया है। अर्थात् इतिहास में से हिंसा नहीं निकलती, बल्कि अहिंसा के विचार की अनिवार्यता निकलती है—यह देखना कठिन नहीं होना चाहिए। बाह्य-दर्शन की हिंसा जैसे अंतर्दर्शन की अहिंसा को पाठ के रूप में प्रस्तुत करने के साधन रूप में ही जनमी हो।

बुद्ध, ईसा, गांधी हमें इतिहास में ज्योति की भांति चमककर लुप्त हुए जान पड़ते हैं। पर ज्योति उन अवतारी पुरुषों की काया के साथ चली ही गई होती, तो उनके नाम आज शेष बचे कैसे रह जाते? वह ज्योति मानवता के हृदयों में अपनी किरणें छोड़े बिना अस्त हो गई होती, तो स्मृति किस सहारे उस ज्योतिर्मयता को संजो सकती? अतीत और व्यतीत मानकर इतिहास में से उनकी वर्तमानता को मिटाया नहीं जा सकता है। यह कि मनुष्य अपनी हिंसा की घोरता से संत्रस्त और भयभीत है, उसकी अहिंसक चेतना को ही दरसाता है। हिंसा का गौरव क्रमशः घटता जा रहा है। उस पर बल्कि अगौरव इतना चढ़ गया है कि हिंसा पर

उतरने वाली सत्ता और शक्ति को विश्व-मत के आगे अपनी कैफियत और सफाई देनी होती है। जैसे यह गृहीत हो कि वह जुर्म है, इससे सफाई देना शुरू से ही जरूरी है। इसको मानव-चेतना में अहिंसा के भाव की व्याप्ति से अतिरिक्त दूसरा और क्या कहेंगे।

विज्ञान बुद्धि की वह तटस्थ प्रक्रिया है, जो सागर से बूंद की तरफ चलती है। अन्वय और पृथक्करण उसकी पद्धति है। इसमें एक को दूसरे से भिन्न पहचाना जाता है! विज्ञान इस तरह सदा भेद-विज्ञान है। इसलिए विज्ञान स्वतः अभेद से वास्ता नहीं रखता है। जितना-जो चमत्कार विज्ञान दिखाता है, पृथक्करण द्वारा पाए गए मर्म को फिर लौटाकर जीवन के संश्लिष्ट उपयोग में उतारने के द्वारा ही दिखा पाता है। अर्थात् विज्ञान विश्लेषण है, जीवन की आवश्यकता उसमें से संश्लेषण साध लेती और उसके उपयोग से अपने को संपन्न करती चली जाती है।

विज्ञान के उपकरण और आयुध जैसे-जैसे आविष्कृत होते चले गए, वे पहले वासनात्मक वृत्ति के हाथ पड़े। यह भी कहा जा सकता है कि वासना के वेग और दबाव में से बुद्धि की प्रेरणा सचेष्ट हुई और नया-नया आविष्कार करती चली गई। 'निसेसिटी वाज दी मदर आफ इन्वेंशन'। यानी आवश्यकता जीवन संबंधी थी और बुद्धि के विश्लेषण से प्राप्त तथ्यों को जीवन की परिस्थितियां संश्लेषण का संयोग देकर उपयुक्त करती चली गई। विज्ञान युद्ध की आवश्यकता के नीचे चेतता रहा और पीछे जाकर वही रचनात्मक और विधायक कामों में आया। बुराई में से अक्सर हम भलाई फलित होते देखते हैं पर वह भलाई बुराई को भला नहीं बना देती। फिर भी उस भले फल को अपनाकर हम बुराई के कृतज्ञ भी हो लेते हैं। विज्ञान को अपने-आप में भला या बुरा ठहराने का कुछ अर्थ नहीं है। हवा को गोरा-काला क्या कहा जाए? लेकिन एक को दूसरे से पृथक् करके समझने की विधि तभी सही काम देगी जब साथ ही अभिन्नता की भूमि और श्रद्धा प्राप्त बनेगी। यह भूमि जीवन की ही भूमिका है और उस श्रद्धा से मानव-मन कभी खाली नहीं हो पाता है। यही जीवन का सनातन धर्म है। वैज्ञानिक-संहार में से भी जीवन अपना निर्माण निकाल लेता है और हिंसा में से अहिंसा की ओर गति साध लेता है। वह जीवन-धर्म, मानव-धर्म, एक क्षण के लिए भी सोता नहीं है। और मानव उसी की चौकसी में अपने सब उत्पातों के बावजूद मानवता में उठता और बढ़ता ही आया है। मनुष्य की ओर से जो अधर्म हुआ है, उसके प्रति कोई समर्थन या समझ का भाव यहां नहीं देखना चाहिए। केवल मानवेत्तर ऐतिहासिक विकास-नियम को ही पहचान लेना और अपनी आस्था में बिठा लेना चाहिए। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

कर्म का निरोध करने वाली आत्मा की अवस्था का नाम संवर है। यह आश्रव का प्रतिपक्षी तत्त्व है। इस अवस्था में समस्त आत्म-प्रदेश स्थिर हो जाते हैं। आत्म-प्रदेशों की चंचलता आश्रव है और उनकी स्थिरता संवर है। आश्रव कर्म-ग्राहक अवस्था है और संवर कर्म-निरोधक। संवर के स्वरूप को समझाते हुए आचार्यश्री भिक्षु ने लिखा—'ज्यों तालाब का नाला रोके, हवेली का द्वार रोके और नौका का छेद रोके, त्यों जीव के आश्रव को रोकना संवर है। नाला बंद करने पर तालाब में जल नहीं आता, उसी प्रकार आश्रव का निरोध होने पर आत्मा में शुभाशुभ कर्म नहीं आ सकते।' इससे स्पष्ट है कि आश्रव संसार का हेतु है और संवर मोक्ष का। जीव जैसे-जैसे गुणस्थानों में आरोहण करता है, वैसे-वैसे आश्रव घटता है और संवर बढ़ता है। यही कारण है कि प्रथम गुणस्थान में परिपूर्ण आश्रव है और अंतिम गुणस्थान में परिपूर्ण संवर।

संवर : एक मीमांसा

❑ मुनि मदनकुमार ❑

जैन धर्म निर्वाणवादी है। आत्मा का सर्वथा कर्म-मुक्त हो जाना जैन दर्शन और धर्म को अभीष्ट है। निर्वाण का तात्पर्य है—चतुर्गतिरूप संसार के परिभ्रमण से निवृत्त हो जाना। कर्मरूपी दावानल को शांत कर आत्म-प्रदेशों के शीतल होने से जीव निर्वाण को प्राप्त होता है। निर्वाण के दो साधन हैं—संवर और निर्जरा अथवा निग्रह और शोधन। नए कर्मों के निरोध को संवर और बद्ध कर्मों के क्षय को निर्जरा कहते हैं। संवर और निर्जरा दोनों ही आत्मा के निज गुण हैं और दोनों ही जिनाज्ञासम्मत आत्म-अवस्थाएं हैं। संवर तत्त्व की मीमांसा करते हुए आचार्यश्री भिक्षु ने लिखा—'संवर पदारथ ओळख्यां विनां, संवर न नीपजे कोय।' संवर पदार्थ को पहचाने बिना संवर नहीं होता और संवर के बिना निर्वाण नहीं होता। आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—'संवर की प्राप्ति के लिए विशेष अर्हता चाहिए। अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क सम्यक्त्व का निरोध करने वाला है। उसके क्षय, उपशम और क्षयोपशम से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, किंतु संवर की नहीं। संवर तत्त्व की प्राप्ति तभी संभव है जब अप्रत्याख्यान कषाय चतुष्क का अनुदय हो।' यही कारण है कि प्रथम चार गुणस्थान तक संवर तत्त्व नहीं पाया जाता है। अप्रत्याख्यान कषाय चतुष्क का विलय पांचवें गुणस्थान में होता है और वहीं संवर तत्त्व निष्पन्न होता है। संवर भाव जीव है और आत्मा का पर्याय होने से अमूर्त तत्त्व है। संवर से कर्मों का निरोध होता है, अतः यह निरवद्य और उपादेय आत्म-परिणाम है।

कर्म का निरोध करने वाली आत्मा की अवस्था का नाम संवर है। यह आश्रव का प्रतिपक्षी तत्त्व है। इस अवस्था में समस्त आत्म-प्रदेश स्थिर हो जाते हैं। आत्म-प्रदेशों की चंचलता आश्रव है और उनकी स्थिरता संवर है। आश्रव कर्म-ग्राहक अवस्था है और संवर कर्म-निरोधक। संवर के स्वरूप को समझाते हुए आचार्यश्री भिक्षु ने लिखा—'ज्यों तालाब का नाला रोके, हवेली का द्वार रोके और नौका का छेद रोके, त्यों जीव के आश्रव को रोकना संवर है। नाला बंद करने पर तालाब में जल नहीं आता, उसी प्रकार आश्रव का निरोध होने पर आत्मा में शुभाशुभ कर्म नहीं आ सकते।' इससे स्पष्ट है कि आश्रव संसार का हेतु है और संवर मोक्ष का। जीव जैसे-जैसे गुणस्थानों में आरोहण करता है, वैसे-वैसे आश्रव घटता है और संवर बढ़ता है। यही कारण है कि प्रथम गुणस्थान में परिपूर्ण आश्रव है और अंतिम गुणस्थान में परिपूर्ण संवर।

आश्रव के बीस भेद हैं और संवर के भी बीस भेद हैं। प्रत्येक आश्रव का एक-एक संवर प्रतिपक्षी है। संवर तत्त्व को समझने के लिए आश्रव तत्त्व को समझना जरूरी है। तत्त्व चिंतकों ने इन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण से निरूपित कर इनके समीचीन स्वरूप को समझने में

महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। आश्रव शुभाशुभ कर्म का कर्ता है और कर्म ग्रहण करने का आत्म-परिणाम। इसे यों प्रस्तुत किया जा सकता है—

आश्रव तत्त्व द्रव्य से—अनंत, क्षेत्र से—जीवाश्रित, काल से—अनादि-अनंत (अभव्य की अपेक्षा), भाव से—अनादि-सांत (मोक्षगामी भव्य की अपेक्षा), सादि-सांत (प्रतिपाती सम्यक् दृष्टि की अपेक्षा), भाव से—अरूपी, गुण से—कर्म ग्रहण करना।

इस संसार में अनंतानंत जीव हैं और वे आश्रव-युक्त हैं। इसलिए आश्रव को द्रव्य से अनंत कहा गया है। आश्रव जीव का पर्याय है, जीव का निज गुण है और जीव से पृथक् नहीं है, इसलिए उसे जीवाश्रित कहा गया है। जीव संपूर्ण लोक में व्याप्त हैं, किंतु क्षेत्र से वह जीवाश्रित ही है। यह जीवात्मा अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है, इसका मूल हेतु आश्रव है। अभव्य जीवों की अपेक्षा आश्रव अनादि-अनंत है तथा मोक्षगामी भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-सांत है। आश्रव के अंत से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः मोक्षगामी जीवों की अपेक्षा आश्रव सांत होता है। जिन जीवों ने सम्यक्त्व प्राप्त किया और वे सम्यक्त्व-च्युत होकर पुनः मिथ्यात्व प्राप्त करने पर प्रतिपाती सम्यक् दृष्टि जीव कहलाते हैं, उनकी अपेक्षा से आश्रव सादि-सांत है। वे भी निश्चित ही मोक्षगामी होते हैं। आश्रव जीव होने से भाव से अरूपी है तथा वह वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से रहित है। आश्रव कर्मों का कर्ता है, कर्म-ग्रहण करने का आत्म-परिणाम है और यही उसका गुण है।

संवर शुभाशुभ कर्म का निरोध करने वाला है। इससे आत्म-प्रदेशों में कर्मों का प्रवेश रुकता है। यह कर्म-निरोध का आत्म-परिणाम है। इसे यों प्रस्तुत किया जा सकता है—

संवर तत्त्व द्रव्य से—असंख्य; क्षेत्र से—जीवाश्रित; काल से—आदि-अंत-सहित; भाव से—अरूपी; गुण से—कर्म निरोध करना।

प्रथम चार गुणस्थान में संवर तत्त्व नहीं पाया जाता है। पांचवें से चौदहवें गुणस्थान तक ही संवर तत्त्व पाया जाता है। यों भी कहा जा सकता है कि श्रावक और साधु ही केवल संवर तत्त्व के अधिकारी होते हैं। उनकी संख्या असंख्य ही होती है, अतः संवर तत्त्व द्रव्य से असंख्य है। आश्रव की तरह संवर भी जीव का पर्याय है, जीव का निज गुण है और जीव से पृथक् नहीं है इसलिए उसे जीवाश्रित कहा गया है। आश्रव उदय भाव है, जबकि संवर अनुदय भाव है। अतः संवर पुरुषार्थ-सापेक्ष है। संवर की आराधना करने वाला एक निश्चित काल-सीमा में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अतः काल की अपेक्षा से संवर को सादि-सांत कहा गया है। वैसे भी संवर भव या काल प्रतिबद्ध होता है। अतः उसे सादि-सांत कहा गया है। आश्रव की तरह संवर भी जीव है। अतः वह भाव से अरूपी है तथा वह वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से रहित है। संवर कर्म का निरोध करने वाला है, कर्म-निरोध का आत्म-परिणाम है और यही उसका गुण है।

संवर नौ तत्त्वों में छठा तत्त्व है। उसके अस्तित्व-निरूपण में कहा गया है—ऐसी संज्ञा मत करो कि आश्रव और संवर नहीं हैं, पर ऐसी संज्ञा करो कि आश्रव और संवर हैं। आचार्य पूज्यपाद के शब्दों में—'जो शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन के लिए द्वार-रूप है, वह आश्रव है और जिसका लक्षण आश्रव का निरोध करना है, वह संवर है।' यहां एक प्रश्न हो सकता है कि संवर सर्व आश्रवों का निरोधक होता है या केवल पापाश्रवों का। एक विचार के अनुसार—जो सर्व आश्रवों के निरोध का हेतु होता है—उसे संवर कहते हैं। दूसरे विचार के अनुसार—जो अशुभ आश्रवों के निग्रह का हेतु है—उसे संवर कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि संवर केवल अशुभ आश्रवों के निग्रह का ही हेतु नहीं है, अपितु वह शुभ आश्रवों के निग्रह का भी हेतु है।

आश्रव के बीस भेदों का समावेश पांच आश्रव में तथा संवर के बीस भेदों का समावेश पांच संवर में किया जा सकता है। आश्रव की तरह संवर के भी मूल भेद पांच ही हैं। प्राणातिपात आश्रव से लेकर सूची कुशाग्र सेवन तक सभी आश्रव योग आश्रव के अंतर्गत हैं। यहां यह जान लेना चाहिए कि प्राणातिपात विरमण संवर से लेकर सूची कुशाग्र संवर तक सभी पंद्रह संवर व्रत संवर के अंतर्गत हैं। संवर तत्त्व के हार्द को समझने के लिए उसके बीस भेदों का संज्ञान जरूरी है। पांचवें गुणस्थान में सम्यक्त्व संवर तथा छठे गुणस्थान में सम्यक्त्व और व्रत संवर पाया जाता है। सातवें गुणस्थान में अकषाय, अयोग, मन, वचन और काय संवर को छोड़कर शेष पंद्रह संवर पाए जाते हैं। आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में भी यही स्थिति है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में अयोग, मन, वचन और काय संवर को छोड़कर शेष सोलह संवर पाए जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान में संवर के सभी बीस भेद पाए जाते हैं तथा सिद्धों में संवर तत्त्व नहीं पाया जाता है। संवर के बीस भेद निम्नोक्त हैं—

सम्यक्त्व संवर : यह मिथ्यात्व आश्रव का प्रतिपक्षी है। जीवादि नव पदार्थों में यथातथ्य श्रद्धा करना सम्यक्त्व है और विपरीत श्रद्धा का त्याग करना सम्यक्त्व संवर है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर भी त्याग किए बिना सम्यक्त्व संवर नहीं होता है। अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क के अनुदय से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और संवर अप्रत्याख्यान कषाय चतुष्क के क्षयोपशम से होता है।

निर्ग्रंथ प्रवचन में अस्थि और मज्जा की तरह प्रेमानुराग होना श्रद्धा है। जिन-प्ररूपित तत्त्वों में शंका-रहित, कांक्षा-रहित, विचिकित्सा-रहित श्रद्धा, रुचि और प्रतीति को सम्यक् दर्शन अथवा सम्यक्त्व कहते हैं। निर्ग्रंथ प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, प्रतिपूर्ण है, नैर्यातृक है, संशुद्ध है, शल्य का नाश करने वाला है और सिद्धि मार्ग है—ऐसी दृढ़ प्रतीति सम्यक्त्व है। ऐसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर भी सम्यक्त्व संवर नहीं होता। सम्यक्त्व संवर तब होता है जब मिथ्यात्व का त्याग किया जाता है। विपरीत श्रद्धायुक्त का त्याग ही सम्यक्त्व संवर है। इस तरह सम्यक्त्व संवर की निष्पत्ति त्याग-प्रत्याख्यान से होती है।

व्रत संवर : यह अव्रत आश्रव का प्रतिपक्षी है। व्यक्त और अव्यक्त आशा-वांछा-तृष्णा का परित्याग करना व्रत संवर है। इसके दो भेद हैं—पापकारी प्रवृत्तियों का तीन करण, तीन योग से जीवन-पर्यंत के लिए प्रत्याख्यान करना सर्वविरति संवर है तथा इच्छानुसार करण-योग डालकर प्रत्याख्यान करना देशविरति संवर है। पुलाकादि छह निर्ग्रंथ और सामायिक आदि पांच चारित्र सर्वविरति संवर हैं तथा श्रावक के बारह व्रत देशविरति संवर हैं। छठे गुणस्थान आदि में परिपूर्ण व्रत संवर होता है, उनमें अव्रत का किंचित् भी पाप नहीं लगता है। सम्यक्त्व संवर की तरह व्रत संवर भी प्रत्याख्यान-पूर्वक होता है।

अप्रमाद संवर : यह प्रमाद आश्रव का प्रतिपक्षी है। प्रमाद का अर्थ आत्म-प्रदेशों में स्थित अनुत्साह भाव है। आत्म-स्थित अनुत्साह का सर्वथा नष्ट होना अप्रमाद संवर है। छठे गुणस्थान तक प्रमाद आश्रव निरंतर रहता है और उसका पाप प्रतिक्षण लगता रहता है। सातवें आदि गुणस्थानों में अप्रमाद संवर पाया जाता है। जिन कर्मों के उदय से जीव प्रमादी होता है—उनका क्षय, क्षयोपशम या उपशम होना अप्रमाद संवर है।

अकषाय संवर : यह कषाय आश्रव का प्रतिपक्षी है। आत्म-प्रदेशों का क्रोध-मान-माया-लोभ रूप कषाय से मलिन रहना कषाय आश्रव है और उसका सर्वथा क्षय या उपशम होना अकषाय संवर है। चारित्र मोहनीय कर्म के विलय से अकषाय संवर निष्पन्न होता है। दसवें गुणस्थान तक निरंतर कषाय आश्रव रहता है और उसका पाप प्रतिक्षण लगता रहता है। ग्यारहवें आदि चार गुणस्थानों में अकषाय संवर पाया जाता है।

अयोग संवर : यह योग आश्रव का प्रतिपक्षी है। योग दो प्रकार के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। दोनों का सर्वथा निरोध अयोग संवर है। यहां यह समझ लेना चाहिए कि सावद्य योग का आंशिक या संपूर्ण त्याग अयोग संवर नहीं, किंतु व्रत संवर है। साधु के उपवास आदि से शुभ योग का त्याग होता है, किंतु वह भी अयोग संवर नहीं है, बल्कि विशेष संवर या अयोग संवर का निदर्शन मात्र है। वस्तुतः सावद्य और निरवद्य—समस्त प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध अयोग संवर है।

प्राणातिपात विरमण संवर : यह प्राणातिपात आश्रव का प्रतिपक्षी है। इसमें जीव-हिंसा का सर्वथा त्याग किया जाता है।

मृषावाद विरमण संवर : यह मृषावाद आश्रव का प्रतिपक्षी है। झूठ बोलने का सर्वथा त्याग करना मृषावाद विरमण संवर है।

अदत्तादान विरमण संवर : यह अदत्तादान आश्रव का प्रतिपक्षी है। इसमें अदत्त वस्तु लेने का सर्वथा त्याग किया जाता है।

मैथुन विरमण संवर : यह मैथुन आश्रव का प्रतिपक्षी है। मैथुन सेवन का सर्वथा त्याग करना मैथुन विरमण संवर है।

परिग्रह विरमण संवर : यह परिग्रह आश्रव का प्रतिपक्षी है। इसमें धन-धान्यादि परिग्रह एवं ममत्व भाव का सर्वथा त्याग किया जाता है।

श्रोत्रेंद्रिय निग्रह संवर : यह श्रोत्रेंद्रिय आश्रव का प्रतिपक्षी है। अच्छे-बुरे शब्दों में राग-द्वेष करना श्रोत्रेंद्रिय आश्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा श्रोत्रेंद्रिय को वश में करना और प्रिय-अप्रिय शब्दों में राग-द्वेष न करना श्रोत्रेंद्रिय निग्रह संवर है।

चक्षुरिंद्रिय निग्रह संवर : यह चक्षुरिंद्रिय आश्रव का प्रतिपक्षी है। प्रत्याख्यान द्वारा चक्षुरिंद्रिय को वश में करना और अच्छे-बुरे रूपों में राग-द्वेष न करना चक्षुरिंद्रिय निग्रह संवर है।

घ्राणेंद्रिय निग्रह संवर : यह घ्राणेंद्रिय आश्रव का प्रतिपक्षी है। सुगंध-दुर्गंध में राग-द्वेष करना घ्राणेंद्रिय आश्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा घ्राणेंद्रिय को वश में करना और इष्ट-अनिष्ट गंधों में राग-द्वेष न करना घ्राणेंद्रिय निग्रह संवर है।

शेष पृष्ठ 43 पर

अनुभूति

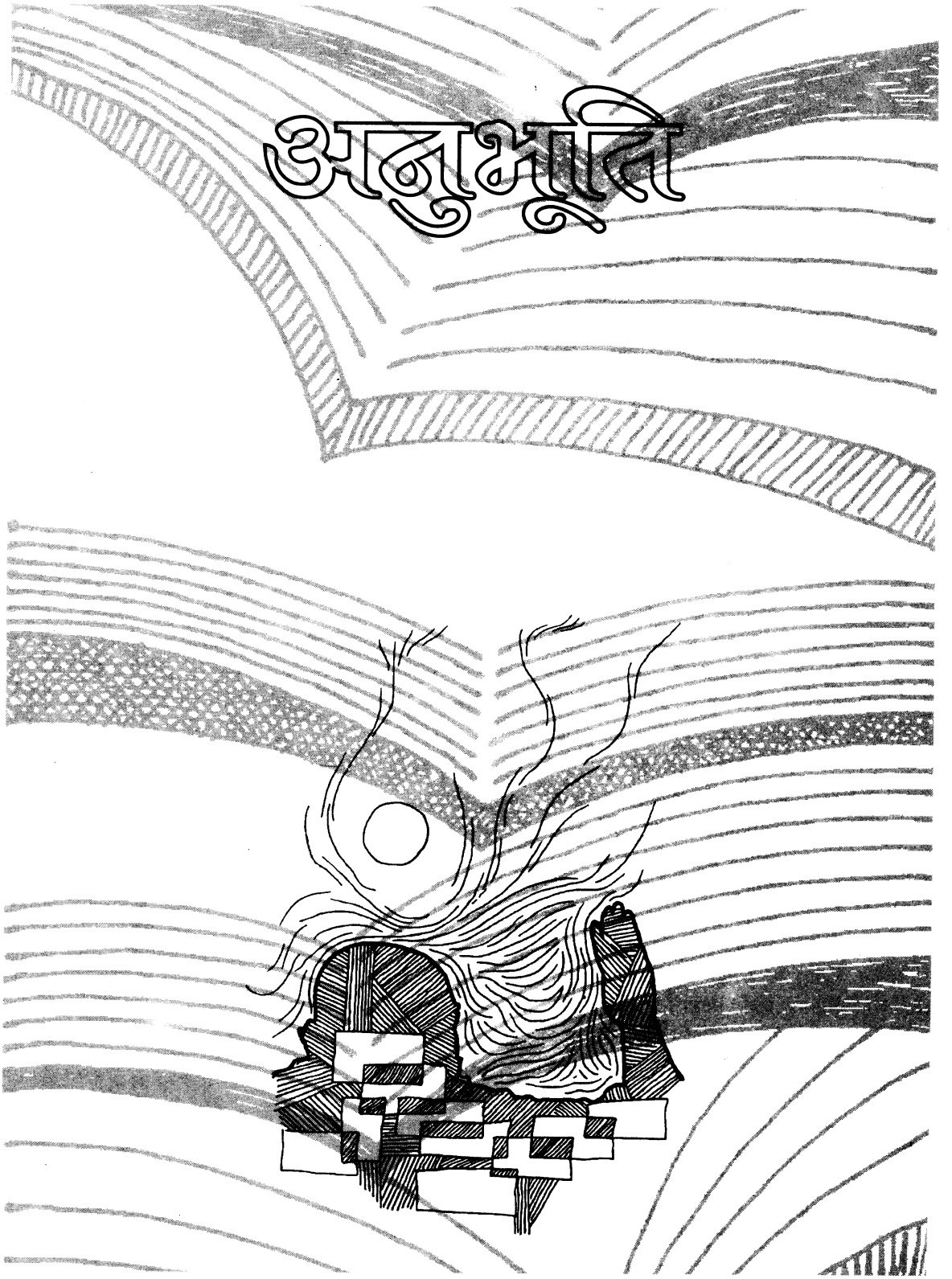

मन में
अंधेरे का
एक धब्बा था
जो
फैलता चला गया
और सब अंधेरा है

यह धब्बा
प्रकाश का होता
तो भी फैलता
और सब
उजाला हो जाता

—भवानीप्रसाद मिश्र

एक आदर्श प्रशासक के रूप में वह उस धरातल पर उतरकर परिस्थितियों को समझता-देखता था, जिन पर उन्हें प्रशासन करना होता था। आतंक और भय का प्रशासन अस्थाई होता है। धर्म का क्षेत्र आतंक और भय से सर्वथा मुक्त होता है। इसलिए प्रशासन के क्षेत्र में उसने मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया। उसके प्रशासन-काल में नई क्रांति घटित हुई। विकास के नए आयाम उदघाटित हुए। बद्धमूल धारणाओं में बदलाव आया। उपयोगिता के संदर्भ में नए मूल्य-मानक प्रस्थापित हुए और एक नए युग का प्रवर्तन हो गया।

मानवजाति के परित्राता—जयाचार्य

❑ आचार्यश्री तुलसी ❑

शब्दों और परिभाषाओं की सीमा से मुक्त, देश और काल की बाधाओं से अतीत, नए शिल्प और सृजन का प्रतीक जयाचार्य का बहुआयामी व्यक्तित्व। संचित और संचीयमान सुकृत का पुंज, अपने समग्र परिवेश के प्रति सक्रिय, लोकोत्तर होने की दिशा में अग्रसर, धरा की समस्त उर्वरता से परिस्पंदित जयाचार्य का जीवन। सूरज की किरण-सा कांतिमान, हिमालय-सा उजला, नई अनुभूतियों और नए अस्तित्व का सृजक जयाचार्य का आभिजात्य कर्तृत्व। नए शिल्पन की खोज में जागरूक, स्वयं पर अपार आस्थाशीलता का परिचायक, ज्ञान की अनाहत शलाका से रूपायित, कालजई साहित्य-साधना का व्यंजक जयाचार्य का बहुमुखी कर्तृत्व।

200 वर्ष पूर्व एक दीप जला। जलता रहा। तेल और बाती की अपेक्षा किए बिना जलता रहा। 78 वर्ष तक वह जला। उसने अपने आलोक से अगजग को आलोकित किया। 78 वर्ष तक अप्रकंप भाव से प्रज्वलित रहने के बाद उसका निर्वाण हो गया। कितने दशक पूरे हो गए हैं उस घटना को घटित हुए, पर अब तक भी उसकी प्रकाश-तरंगें निस्तेज नहीं हुई हैं।

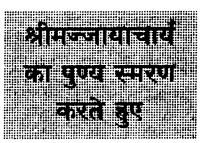

एक बीज अंकुरित हुआ था 4 अक्टूबर सन् 1803 को। वह बढ़ा, पल्लवित-पुष्पित हुआ। जीवन-यात्रा में परिश्रांत पथिकों को उसकी सघन छाया में विश्राम मिला। लगभग आठ दशकों तक वह अविचल खड़ा रहा। उसने लोक-जीवन को संरक्षण दिया, पोषण दिया और उसके हितों में अपने अस्तित्व को समर्पित कर दिया। आज भी लोकमानस में उसका प्रभाव प्रतिबिंबित है।

राजस्थान की सूखी धरती पर यह फूल खिला था। उसकी सौरभ से सारा पर्यावरण सुगंधित हो उठा। हवा के रथ पर आरूढ़ होकर वह सौरभ दिग्दिगंतों में व्याप गई। उसने जिस-जिसको अपने वत्सल स्पर्श से आप्लावित किया, वह अभिभूत हो गया। वह सौरभ जन-जन की घ्राण-चेतना में आज भी संवेदित होकर अपने अस्तित्व का सूचन कर रही है।

मरुधर के एक छोटे-से गांव रोयट में वि. सं. 1860 आश्विन शुक्ला चतुर्दशी के पुण्य क्षणों में अपने जन्म का इतिहास बनाया था उस महान शब्दशिल्पी ने। किशोर वय में ही उसने साहित्य की जो अजस्र धारा बहाई, वह अप्रतिहत रूप से गतिशील रही। विलक्षण थी उसकी ऋतंभरा प्रज्ञा। उसमें सत्य का स्वयंभू प्रकाश था। जब वह प्रकाश अनुभव की राह उतर आया तो लेखनी की नोक से कागज पर अंकित हो गया। उसने साहित्य की नई-नई विधाओं को जन्म दिया। उसकी साहित्यिक चेतना को निर्मल बनाने में उसका पुष्ट स्वाध्याय योग निमित्त था। उसकी मेधा प्रबल थी, चिंतन-शक्ति उर्वर थी और स्मृति सघन थी। उसने बृहत्तम जैनागम भगवती का राजस्थानी भाषा में सफल पद्यानुवाद किया। सोलह हजार पद्य परिमाण वाला भगवती सूत्र उस साहित्यकार की लेखनी से इकसठ हजार पद्य परिमाण वाला ग्रंथ बन गया।

एक कलाकार का उदय हुआ था तेरापंथ धर्मसंघ में। वह किसी कला-विशेष का ही मर्मज्ञ नहीं था, उसके जीवन में ही सब कलाओं का युगपत निखार था। उसने कलात्मक जीवन जीया और जो उसके संपर्क में रहे, उन्हें जीवन-कला का बोध दिया। चलना, बैठना, बोलना, कपड़े पहनना, पात्र-निर्माण करना, रजोहरण बनाना, लिखना, पढ़ना आदि जीवन-कला के जितने पक्ष हैं, उन सबको उसने संवारा। उसकी कला कला के लिए नहीं, जीवन के लिए थी; इसलिए वह सजीव थी। उसमें किसी का अनुकरण नहीं, जागरूक सृजन था। अद्‌भुत था वह कलाकार, जिसने जीवन-कला की इतनी उत्कृष्ट साधना की।

एक संगीतकार उतरा था इस धरती पर, जिसके संगीत में खिलते हुए नाजुक फूलों की मुसकान-सी स्मित स्वरलहरियां गुंजित थीं। उसके गले का लोच और संगीत का प्रवाह अनुपम था। लोकगीतों की धुनों पर जब-जब वह गाता था, श्रोताओं को मुग्ध कर लेता था। सृजन और संगान की ये धाराएं उसमें समानांतर प्रवहमान थीं। संगीत जीवन का रस है। वह जीवन-भर रसपान करता रहा और मुक्त-मन से दूसरों को भी कराता रहा।

भोगवाद के जटिल युग में जन्मे इस ध्यानयोगी ने ध्यान के अनेक प्रयोग किए। घंटों तक आत्म-केंद्रित होकर ध्यान में लीन रहता था। ध्यान के क्षणों में उसे जो अनुभव होते थे, उसने ध्यानयोग की एक विशिष्ट परंपरा का उद्‌भावन किया। ध्यान की नई-नई परंपराएं आज भी जन्म ले रही हैं। पर शुद्ध चैतन्य का अनुभव कराने वाली और वीतरागता की ओर ले जाने वाली ध्यान की वह प्रक्रिया एक शाश्वत सत्य है, जो कभी भी निस्तेज और प्रभावहीन नहीं हो सकती। प्रेक्षाध्यान और लेश्याध्यान के उसके स्वोपज्ञ-प्रयोग कल्पना की उपज नहीं, एक वैज्ञानिक विश्लेषण है।

धर्मनीति के निर्मल आकाश में वह एक अनुपम प्रशासक था, क्योंकि वह जितना प्रशासक था, उससे कहीं अधिक दार्शनिक था। दार्शनिक जीवन के सभी रहस्यों पर सूक्ष्मता से विचार किया।

एक आदर्श प्रशासक के रूप में वह उस धरातल पर उतरकर परिस्थितियों को समझता-देखता था, जिन पर उन्हें प्रशासन करना होता था। आतंक और भय का प्रशासन अस्थाई होता है। धर्म का क्षेत्र आतंक और भय से सर्वथा मुक्त होता है। इसलिए प्रशासन के क्षेत्र में उसने मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया। उसके प्रशासन-काल में नई क्रांति घटित हुई। विकास के नए आयाम उदघाटित हुए। बद्धमूल धारणाओं में बदलाव आया। उपयोगिता के संदर्भ में नए मूल्य-मानक प्रस्थापित हुए और एक नए युग का प्रवर्तन हो गया।

बहुरंगी व्यक्तित्व के धनी युगपुरुष जयाचार्य तेरापंथ धर्मसंघ के चतुर्थ आचार्य थे, पर उनका व्यक्तित्व वहीं तक सिमटकर नहीं रहा। वे समग्र मानवजाति के परित्राता थे। उन्होंने अपने युग को जो देन दी, उसके लिए समूची मानवजाति उनके प्रति कृतज्ञ है।

श्रीमज्जयाचार्य तेरापंथ धर्मसंघ के विशिष्ट आचार्य थे। वे संत और साहित्यकार साथ-साथ थे। उनके साहित्य में संतत्व का प्रतिबिंब है, वहीं उनके संत-जीवन में साहित्य की स्रोतस्विनी अनवरत बहती रही है। वे जितने सफल नेता थे उतने ही सफल प्रणेता थे। उनके नेतृत्व में तेरापंथ धर्मसंघ ने अद्‌भुत निखार पाया। उनकी प्रणयन-क्षमता भी कम प्रभावक नहीं थी।

जयाचार्य ने अपने मुनि-जीवन में आचार्य, उपाध्याय और मुनि—इन तीन भूमिकाओं का एक साथ निर्वाह किया। उनका प्रशासन, अध्ययन-अध्यापन और साधना का क्रम विलक्षण था। इस विलक्षणता के लिए ही उनका जीवन बचा था, ऐसा प्रतीत होता है, अन्यथा उनके जीवन की आशा क्षीण हो चुकी थी।

जीवनदान मिल गया

जयाचार्य के गृहस्थ जीवन का नाम था जीतमल। स्वरूपचंद और भीमराज उनके दो बड़े भाई थे। उनके पिता आईदानजी गोलछा अपने क्षेत्र में बड़े प्रसिद्ध थे। उनकी माता का नाम कल्लूजी था। अपने सबसे छोटे पुत्र जीतमल के प्रति पिता के मन में अगाध स्नेह था। बालक जीतमल बीमार हुआ, बीमारी ने उग्र रूप ले लिया। सही निदान नहीं हुआ और उपचार काम में नहीं आया। परिवार में निराशा छा गई। एक-एक क्षण बीत रहा था, पर आगे के एक भी क्षण का विश्वास नहीं था। बालक किसी भी क्षण दम तोड़ सकता था। माता कल्लूजी विवश खड़ी थीं। बीमारी से तड़पते हुए बच्चे को देखकर उन्हें असह्य पीड़ा हो रही थी। परिवार के सब लोग उपस्थित थे, पर थे निरुपाय। किसी की बुद्धि काम नहीं कर रही थी। ऐसे समय में एक अद्‌भुत घटना घटी। उसी घटना से बालक को जीवनदान मिल गया।

प्रातःकाल का समय था। तेरापंथ धर्मसंघ की वयोवृद्ध साध्वी अजबूजी आईदानजी थे घर पहुंचीं। माता कल्लूजी बालक जीतमल को गोद में लिए बैठी थीं। बालक तो जैसे अंतिम श्वास ही गिन रहा था। साध्वीजी ने बालक

को दर्शन दिए। धर्माराधना की प्रेरणा दी और शोक-संतप्त कल्लूजी को संबोधित कर कहा—'बहन! रोना-धोना छोड़ो। मन को मजबूत करो। देव, गुरु और धर्म की शरण लो। चिंता-मुक्त होकर संकल्प करो कि यह बालक जीवित रह जाए और यदि यह बालक धर्मसंघ में समर्पित होना चाहे तो बाधक नहीं बनोगी।'

साध्वीजी की अप्रत्याशिप रूप से कही हुई इस बात ने सबको विस्मित कर दिया। वहां उपस्थित परिजनों में से एक भाई बोला—'साध्वीजी! आप क्या कह रही हैं? बालक ने खाना, बोलना बंद कर दिया, यह पेय पदार्थ भी नहीं पी सकता। थूक निगलने में भी इसे कष्ट हो रहा है। ऐसी स्थिति में इसके धर्मसंघ में समर्पण की बात! हमें तो इसके जीवन का भी भरोसा नहीं है।'

साध्वी ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—'आप लोग इसके जीवन की आशा छोड़ चुके हैं। ऐसी स्थिति में संकल्प करने में क्या कठिनाई है? यह जीवित रहेगा और संसार से विरक्त होगा, तब ही यह बात चरितार्थ होगी, अन्यथा कुछ नहीं है।' कल्लूजी ने बद्धांजलि होकर कहा—'जीतमल जीवित रहे, इस संकट से निकल जाए तो वह धर्मसंघ के भाग्य का है। मैं अपनी ओर से इस काम में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचाऊंगी।'

साध्वी ने निर्विकल्प मन से बालक को नमस्कार-मंत्र और मंगलमंत्र सुनाया। परिवार के लोग कुछ आश्वस्त हुए। फिर भी उनका मन आशंकित और आतंकित था। इधर साध्वीजी मुड़ीं और उधर बालक की स्थिति में सुधार होना शुरू हो गया। उसने आंखें खोलीं। करवट बदली। उसके श्वास की गति ठीक हुई। गले की पीड़ा कम हुई। पेय पदार्थ उसके गले से नीचे उतरने लगा। बिना किसी विशेष उपचार के उसका मायूसी-भरा मासूम चेहरा खिलता-सा नजर आया। देखने वालों को विश्वास नहीं हो रहा था, पर यह सब परिवर्तन इतनी तीव्र गति से हुआ कि विश्वास करना पड़ा। बालक खतरे से बाहर था। यह घटना उसके बचपन की है।

बालक जीतमल स्वस्थ हुआ। परिजनों ने कहा—'यह हमारे भाग्य से नहीं, धर्मसंघ के भाग्य से बचा है।' उधर बालक को अज्ञात प्रेरणा मिली। उसका मन विरक्त हुआ। वह अंतर्मुखी बना और तेरापंथ धर्मसंघ के द्वितीय आचार्य भारमलजी का शिष्य बन मुनि-जीवन जीने का स्वप्न देखने लगा।

भविष्य की झलक

उन दिनों आचार्य भारमलजी जयपुर में प्रवास कर रहे थे। बालक जीतमल अपनी मां और दोनों भाइयों के साथ जयपुर पहुंचा। वहां वे लोग स्थानीय प्रसिद्ध जौहरी लाला हरचंद के मकान में ठहरे। बालक जीतमल लालाजी को भा गया। उन्होंने उसके भीतर छिपे उसके व्यक्तित्व को देखा। उन्होंने जिज्ञासा की—यह कौन है? कहां से आया है? बड़ा होनहार बालक है। मेरा मन करता है कि अपनी भतीजी की शादी इसके साथ कर दूं।

बालक जीतमल के सामने यह प्रस्ताव आया। उसने कहा—'मैं शादी करूंगा संयमश्री के साथ। मेरी संपत्ति होगी ज्ञान, दर्शन और चारित्र। मैं शरण स्वीकार करूंगा अपने धर्माचार्य भारमलजी की। मेरे भरण-पोषण का सारा दायित्व उन्हीं पर रहेगा।' जिस-किसी ने बालक का यह उत्तर सुना, वह उसकी विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।

आचार्य भारमलजी ने बालक को परखा। उसके पलक-पृष्ठों पर अध्यात्म की नई पांडुलिपि को पढ़ा। उसकी चमकीली आंखों में उसके उज्ज्वल भविष्य को देखा। उसके श्यामवर्ण किंतु सुषमा-मंडित शरीर के शुभ लक्षणों से झांकते हुए व्यक्तित्व को पहचाना। उसके आंतरिक सौंदर्य में तेरापंथ धर्मसंघ के भावी भाग्यविधाता की एक झलक पाई और उन्होंने उसे दीक्षित करने की स्वीकृति दे दी।

सिंह का राज्याभिषेक कौन करता है?

मुनि जीतमल नैसर्गिक प्रतिभा के धनी थे। अपनी सहजात प्रतिभा से ही वे महान बने। वन में सिंह का राज्याभिषेक कौन करता है? अपने पराक्रम और बल से वह स्वयं वनराज बन जाता है। इसी प्रकार जिनका प्रज्ञा-बल जागृत होता है, उनका कर्तृत्व स्वयं सामने आ जाता है।

मुनि जीतमल उस समय अठारह वर्ष के होंगे। आचार्य भारमलजी ने अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। संभव है वह 'मनोनयन-लेख' मुनि जीतमल के हाथ से या उन्हें पास बिठाकर ही लिखा गया हो। उसमें उन्होंने लिखा—'भिक्षु पाट भारीमाल, भारीमाल पाट खेतसी तथा रायचंद।' मुनि जीतमल के मस्तिष्क में बिजली-सी कौंधी। एक पद के लिए दो नाम! संघ की भावी व्यवस्था पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा? इससे कहीं संघर्ष की स्थिति तो उत्पन्न नहीं हो जाएगी? इस विचार-वाहिनी में बहते हुए वे आचार्यवर के पास पहुंचकर विनम्र भाव से बोले—'गुरुदेव! आप महान हैं। मैं बालक हूं। आपके कार्य में हस्तक्षेप करूं, यह मेरा अधिकार नहीं है। पर मेरा एक छोटा-सा नम्र निवेदन है कि आपने उत्तराधिकार-पत्र में दो

नाम लिखे हैं, वे ठीक रहेंगे?' आचार्यवर बोले—'जीतमल! दो क्या, एक ही नाम समझो। दोनों परस्पर मामा-भानजे तो हैं ही।' मुनि जीतमल रुके नहीं। वे बोले—'गुरुदेव! दो आखिर दो ही हैं। आप दोनों से काम करवाना चाहते हैं तो पहले किसी एक का नाम और फिर दूसरे का नाम अंकित कर दें, पर एक साथ दो नामों का रहना विचारणीय है।' आचार्यवर अपने शिष्य के साहसिक निवेदन पर बहुत खुश हुए। उन्होंने बाल-मुनि की बात मान उस पत्र में एक नाम पर लकीर खींच दी। वह पत्र आज भी सुरक्षित है, जो इतिहास की इस अद्भुत घटना का साक्ष्य है।

उस समय की यह घटना भावी आचार्यों के लिए एक स्थिर 'मानक' बन गई। वे जब-कभी अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन करेंगे, इस प्रसंग को विस्मृत नहीं कर सकेंगे।

हर घटना इतिहास

इतिहास साक्षी है, मुनि जीतमल के सामने जब-जब ऐसे प्रसंग उपस्थित हुए, उन्होंने अपनी धृति, दूरगामी सूझ-बूझ और गंभीर चिंतन का परिचय दिया। वे वर्तमान को भविष्य के दर्पण में पढ़ते थे। इसलिए उन्होंने धर्मसंघ का भावी पथ प्रशस्त कर दिया। मुनि-जीवन में भी जिनका चिंतन इतना स्पष्ट और सुलझा हुआ था, उनका आचार्य-काल कितना उजागर रहा है, यह कल्पना का नहीं, अनुभव का विषय है। उनके जीवन की एक-एक घटना अपने-आप में इतिहास है। उन्होंने जितना काम किया, एक व्यक्ति अनेक जन्मों में भी नहीं कर सकता। तेरापंथ धर्मसंघ के रथ्य का सारथ्य जिस कुशलता से किया, ऐसा सैकड़ों-हजारों वर्षों के बाद कोई-कोई व्यक्ति ही कर सकता है।

मुनि जीतमल आचार्य बनने के बाद जयाचार्य नाम से अधिक विश्रुत हुए। उन्होंने साहित्यिक परिवेश में अपने नाम के स्थान पर जय या जय-जश शब्द का प्रयोग किया। उनका वही उपनाम मूल नाम से भी अधिक लोकप्रिय हो गया। जयाचार्य के कर्तृत्व का एक-एक पहलू अद्भुत है, अनुपम है। उस पर स्वतंत्र समीक्षा करके ही हम उनको समग्र रूप से जान-पहचान सकते हैं। ❖

धर्म को जाति, वर्ण, समुदाय, संप्रदाय, देश, राष्ट्र की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। मानव-समाज के किसी भी वर्ग में धर्मवान व्यक्ति हो सकता है। धर्म पर किसी एक वर्ग-विशेष का एकाधिकार नहीं हुआ करता। धर्म हमें नेक आदमी बनना सिखाता है। नेक आदमी नेक आदमी है। वह अपने संप्रदाय की ही नहीं, प्रत्युत सारे समाज की शोभा है। जो नेक आदमी ही नहीं है, वह नेक हिंदू या मुसलमान, नेक बौद्ध या जैन, नेक भारतीय या बर्मी, नेक ब्राह्मण या क्षत्रिय कैसे हो सकता है? और जो नेक आदमी हो गया वह सही माने में धर्मवान हो गया। उसे कोई किसी नाम से पुकारे, क्या फर्क पड़ता है? गुलाब गुलाब ही रहेगा, नाम बदल देने से उसकी महक में कोई अंतर नहीं आएगा। जिस बगिया में भी खिलेगा, न केवल उसे बल्कि आस-पास के सभी स्थानों को अपनी सुरभि से महकाएगा ही। अतः मुख्य बात है धर्मवान बनने की, नेक इन्सान बनने की, नाम चाहे सो रहे। बगिया चाहे जिस समुदाय की हो, उस पर चाहे जिस नाम का बोर्ड लगा हो, फूल खिलने चाहिए, सौरभ बिखरना चाहिए।

—सत्यनारायण गोयनका

नम्रता अनेक गुणों की जननी है। किसी में यदि नम्रता आ जाए तो समझिए उसमें अनेक गुण स्वतः आ जाएंगे। आगमकार कहते हैं कि सुविनीत वह होता है जो 'नीयावत्ती' वाला होता है। वह गुरु आदि से नीचे बैठता है। नीचे बैठने से कोई आदमी छोटा नहीं बन जाता है। ऊंचा बैठने वाला गुरु छद्मस्थ ही रह जाता है, जबकि नीचे बैठने वाला शिष्य 'केवली' भी हो सकता है। सूत्रों में तो यहां तक बताया गया है कि शिष्य को केवलज्ञान हो जाए, वह वीतरागता को प्राप्त हो जाए तो भी वह गुरु की उपासना करे, गुरु के प्रति विनय का व्यवहार करे।

सुविनीत की कसौटियां

❑ युवाचार्यश्री महाश्रमण ❑

सुदर्शन सेठ ने थावच्चा-पुत्र से पूछा—'भंते! आपके धर्म का मूल क्या है?' थावच्चा-पुत्र ने कहा—'सुदर्शन! हमारे धर्म का मूल है 'विनय'।' विनय दो प्रकार का होता है—अगार विनय और अनगार विनय। बारह व्रत और ग्यारह उपासक प्रतिमाएं—अगार विनय हैं। पांच महाव्रत, अठारह पाप-विरमण व्रत और बारह भिक्षु-प्रतिमाएं—अनगार विनय हैं। विनय का बहुत मूल्य है। आचार्य भी विनीत को विद्या देते हैं। अविनीत विद्या का अधिकारी नहीं माना जाता। शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल कल्याण है। विनय से अध्यात्म और व्यवहार—दोनों पथ प्रशस्त बनते हैं।

मूलाचार में कहा गया है—

कित्ति मित्ति माणस्स भंजणं गुरुजणे ये बहुमाणं।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा॥

'विनय के व्यावहारिक फल हैं—कीर्ति और मैत्री। विनय के आध्यात्मिक फल हैं—अपने अभिमान का निरसन, गुरुजनों का बहुमान, तीर्थंकर की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन।' विनीत शिष्य आत्मशोधित, निर्द्वंद्वी, सरल, निश्छल, अनासक्त, भक्त-हृदय और प्रसन्न अंतःकरण वाला होता है। उत्तराध्ययन-सूत्र में बताया गया—

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले, अमाई अकुऊहले॥
अप्पं चाडहिक्खिवई, पबन्धं च न कुव्वई।
मेतिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धुं न मज्जई॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।
आप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई॥
कलहडमखज्जए, बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पसिंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई॥

पंद्रह तथ्यों के आधार पर अथवा पंद्रह कसौटियों के आधार पर सुविनीत का निश्चय किया जा सकता है। इसका पहला लक्षण है—नीचवर्ती सुविनीत वह होता है, जो नीचवृत्ति वाला होता है। नीचवृत्ति के दो अर्थ किए जा सकते हैं। एक नीचवृत्ति का आदमी जघन्य स्तर का होता है और दूसरा नीचवृत्ति का आदमी विनम्र प्रकृति का होता है। यहां नीचवृत्ति का संबंध विनम्रता के साथ है। जो आदमी झुकना जानता है, नम्रतापूर्ण व्यवहार करता है—वह सुविनीत होता है। नम्रता का विकास न केवल छोटे व्यक्तियों में हो, अपितु बड़े व्यक्तियों में भी होना चाहिए।

हम जानते हैं कि अपने राज्य का सबसे बड़ा आदमी राज्य का शासक होता है, पर वह अकेला राज्य-व्यवस्था को सम्यक् रूप में संभाल सके—असंभव-सा लगता है। इसीलिए योग्य सचिवों का प्रबंध करता है। यदि मंत्रीमंडल सशक्त है, योग्य है, नीतिवान है तो राज्य का संचालन करने में सुविधा होगी। शासक और उसके अधिकारी विनम्र होते हैं तो वे जनता के साथ भी विनम्रता का व्यवहार कर राज्य को स्थायित्व दे सकते हैं।

नम्रता अनेक गुणों की जननी है। किसी में यदि नम्रता आ जाए तो समझिए उसमें अनेक गुण स्वतः आ जाएंगे।

आगमकार कहते हैं कि सुविनीत वह होता है जो 'नीयावत्ती' वाला होता है। वह गुरु आदि से नीचे बैठता है। नीचे बैठने से कोई आदमी छोटा नहीं बन जाता है। ऊंचा बैठने वाला गुरु छद्मस्थ ही रह जाता है, जबकि नीचे बैठने वाला शिष्य 'केवली' भी हो सकता है। सूत्रों में तो यहां तक बताया गया है कि शिष्य को केवलज्ञान हो जाए, वह वीतरागता को प्राप्त हो जाए तो भी वह गुरु की उपासना करे, गुरु के प्रति विनय का व्यवहार करे।

सुविनीत का दूसरा लक्षण बताया गया कि वह चपल नहीं होता है। चपलता के अनेक प्रकार हो सकते हैं। चार प्रकार की चपलता हमारे सामने है—

गति-चपल—जो दौड़ता हुआ चलता है, नीचे देखकर नहीं चलता, इधर-उधर झांकते हुए चलता है, वह गति-चपल है। यदि भीड़-भाड़-भरे बड़े शहरों की सड़क पर चलना हो, एक सड़क से दूसरी सड़क के पार जाना हो, चौराहे को पार करना हो—उस समय यदि आगे-पीछे या दाएं-बाएं पूरा ध्यान न दिया जाए, सावधानी न रखी जाए तो—दुर्घटना घटित हो सकती है। गति-चापल्य व्यक्ति-दुर्घटना का निमित्त बन सकता है। जो प्रौढ़ व्यक्ति हैं या वयोवृद्ध हैं, उनमें गति-चपलता अपने-आप कम हो जाती है, पर जब बाल-अवस्था हो, दौड़ने की भरपूर सामर्थ्य हो, फिर भी चपलता न रहे—यह विशेष बात मानी जा सकती है। संस्कृत साहित्य में इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है—

पूर्वे वयासि यः शान्तः, स शान्त इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेसु, शान्तिः कस्य न जायते?॥

जो पूर्व अवस्था में शांत है—वह वास्तव में शांत है। जब व्यक्ति वृद्ध हो गया, उसकी शक्ति क्षीण हो गई—तब कौन शांत नहीं हो जाता?

स्थान-चपल—एक स्थान पर बैठा-बैठा जो हाथ पैर हिलाता रहता है, जो स्थिरता से एक आसन पर नहीं बैठ पाता, उसे स्थान-चपल कहा गया है। अनेक लोग ऐसे होते हैं जो आधा घंटा या पंद्रह मिनट भी स्थिरता से नहीं बैठ सकते। इतने समय में ही वे कितनी ही बार आसन बदल लेते हैं और कितनी ही बार हाथ-पांव या गर्दन बिना हिलाए नहीं रह पाते हैं। देखने में आता है कि कुछ व्यक्ति तो बिना प्रयोजन ही बैठे-बैठे पांव हिलाते रहते हैं, कोई चुटकी बजाते रहते हैं, तो कुछ गुनगुनाते रहते हैं। यदि स्थान-स्थिरता का लक्ष्य बना लिया जाए तो अभ्यास से स्थान-चपलता का निवारण किया जा सकता है।

भाषा-चपल—वाणी की चपलता अनेक प्रकार की होती है। असत् प्रलापी—असत् कहने वाला। जैसी स्थिति नहीं है, वैसी बात बता देना, गलत बात कह देना, बात है कुछ, और बता दी कुछ—यह असत् भाषिता है। कड़ा या रूखा बोलने वाला, बात-बात में कटु-शब्दों का प्रयोग करने वाला, अप्रिय बोलने वाला, किसी के पूछने पर रूखा जबाव देने वाला, अशिष्ट भाषा बोलने वाला—असभ्य प्रलापी कहलाता है। जो बिना सोचे-विचारे बोलने वाला होता है, जल्दबाजी में बोलता है, बोलने के बाद क्या परिणाम आएगा—इसका चिंतन बिना किए बोलता है—वह भी चपलता है, असमीक्ष्य-भाषिता है। इसी तरह कार्य संपन्न हो जाने के बाद, अमुक काल-अवधि में यह कार्य किया जाता तो अच्छा होता—इस प्रकार कहने वाला, जिस समय और जिस स्थान पर जो बात कहनी चाहिए—उस समय और उस स्थान पर न कहकर, बाद में कहने वाला—अदेशकाल प्रलापी कहलाता है। यथासमय और यथाक्षेत्र में बात कहने से काम बन सकता है, अन्यथा पश्चात्ताप के सिवाय कुछ नहीं बचता। निराशा ही हाथ लगती है।

भाव-चपल—एक ग्रंथ पढ़ना शुरू किया, थोड़ा-सा पढ़ा-समझा और पढ़ना छोड़ दिया। कोई नया ग्रंथ शुरू कर दिया, फिर उसे भी छोड़कर अन्य ग्रंथ का अध्ययन शुरू कर दिया—यह भाव-चपलता है। मानसिक अस्थिरता वाला, एक काम में मन नहीं लगाने वाला, दत्तचित्त होकर एक काम को पूरा न करने वाला—भाव-चपल कहलाता है।

सुविनीत के संबंध में व्यापक विचार हुआ है। बतलाया जाता है कि सुविनीत वह होता है जो माया नहीं करता—सरल होता है। जो छलना करता है, वह सुविनीत नहीं हो सकता। मायावी-वृत्ति मनुष्यत्व के स्तर को कम कर देती है। इससे उसकी प्रतिष्ठा भी कम हो जाती है, मान-सम्मान और मैत्री भाव भी कम रह जाते हैं। आगमकार कहते हैं कि सुविनीत शिष्य माया नहीं करता। वह दूसरों को ठगने वाली शारीरिक, वाचिक और मानसिक चेष्टा नहीं करता। उसकी कथनी और करनी में विसंवाद नहीं होता है।

सुविनीत का अगला लक्षण बताया गया कि वह कौतूहल-प्रिय नहीं होता है। जो व्यक्ति चंचल प्रकृति वाला होता है—वह नाटक, इंद्रजाल आदि देखने के लिए उत्सुक रहता है, चामत्कारिक विद्याओं को पाने के लिए लालायित रहता है।

सुविनीत के लक्षणों में एक लक्षण बताया गया कि वह अल्प तिरस्कार करने वाला होता है। अल्प शब्द का

प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। अल्प का एक अर्थ है 'अभाव' और दूसरा अर्थ है 'ईषत्' यानी थोड़ा। अभाव अर्थ को स्वीकार करने वाला सुविनीत किसी भी परिस्थिति में, किसी भी अवस्था वाले शिष्य या गुरुभाई का तिरस्कार नहीं करता। ईषत् अर्थ को आत्मसात् करने वाला सुविनीत शिष्य व्यक्ति को धर्म की ओर अभिप्रेरित करने के लिए थोड़ा तिरस्कार कर सकता है। जैसे—गुरु के उपपात में आसीन शिष्य यदि चपलता करता है, अध्ययन नहीं करता, किसी के द्वारा कुछ कहने पर 'तहत्' नहीं कहता, उद्दंडतापूर्ण व्यवहार करता है—ऐसी अवस्था में गुरु द्वारा उसे थोड़ा डांटने पर, उसका तिरस्कार करने पर, करुणार्द्र मन से कठोर वचन का प्रयोग करने पर शिष्य में सजगता बढ़ती है। उसकी दिशा बदल सकती है। जीवन में बदलाव आ सकता है। इस तरह डांटने या तिरस्कार करने के पीछे शिष्य को जागरूक बनाने का उद्देश्य है और इस संदर्भ में सुविनीत शिष्य अल्प तिरस्कार कर सकता है, किंतु अन्यथा भाव से किसी का थोड़ा भी तिरस्कार नहीं करता।

सुविनीत का एक अन्य लक्षण बताया गया कि वह क्रोध को टिकाकर नहीं रखता। कोई बात हुई, कुछ कह दिया और बात समाप्त। बाद में मन पर भार नहीं रहना चाहिए। अविनीत शिष्य बात की गांठ बांधकर रखता है। वह अवसर की ताक में रहता है। सोचता रहता है कि कब अवसर आए और कब ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाए। सुविनीत शिष्य लंबे समय तक गांठ बांधकर नहीं रखता, इसलिए उसमें अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यान क्रोध का उदय नहीं रहता। हां, प्रत्याख्यानी और संज्वलन क्रोध का कभी-कभी विपाकोदय हो सकता है, किंतु सुविनीत अपनी लगाम अपने हाथ में रखता है। वह जल्दी संभल जाता है। खमत-खामणा कर बात को समाप्त कर देता है।

सुविनीत के लक्षणों में आगे बताया गया है कि वह मित्र भाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञ होता है। जो लोग मित्रतापूर्ण व्यवहार करते हैं, प्रिय हैं, उपकारी हैं, स्नेह भाव रखने वाले हैं—उनके प्रति जो कृतज्ञता का भाव रखता है, उनके साथ अनुकूल व्यवहार करता है, उनका मान-सम्मान रखता है—वह सुविनीत होता है।

सुविनीत शिष्य कभी कृतघ्न नहीं हो सकता। वह उपकारी के उपकार को अपनी स्मृति में रखता है। उनकी सेवा-शुश्रूषा करता है, विनय करता है।

सुविनीत का यह लक्षण भी बताया गया कि वह 'सुयं लदुं न मज्जई'—श्रुत प्राप्त कर उसका मद नहीं करता। ज्ञानी आदमी में नम्रता हो तो ज्ञान की शोभा बढ़ती है और जो थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर अहंकार करने लगता है—वह ज्ञान की गरिमा को कम कर देता है। यह भी सच है कि जब तक व्यक्ति को पूरा ज्ञान नहीं होता है, तब तक ही वह अहंकार करता है। पूर्ण ज्ञान होने के बाद तो अहंकार का अस्तित्व ही नहीं रहता। संस्कृत साहित्य में बताया गया—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विग्धं, ब्रह्मापि तं नरं न रंज्जयति॥

अज्ञानी व्यक्ति को समझाना सरल होता है। विशेषज्ञ को समझाना उससे भी अधिक सरल होता है, किंतु जो व्यक्ति अल्पज्ञान को प्राप्त कर अपने-आप को पंडित मानने लगता है—उसे तो ब्रह्माजी भी नहीं समझा सकते।

सुविनीत शिष्य ज्ञान प्राप्त कर उसका मद नहीं करता। वह उसका सदुपयोग करता है। ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करने का प्रयास करता है। वह अपने ज्ञान से अपना ही नहीं, अन्य जनों का भी पथ प्रशस्त करता है।

सुविनीत का एक लक्षण यह भी बताया गया कि वह मित्रों पर क्रोध नहीं करता। किसी ने कोई नुकसान कर दिया, उस पर यदि कोई आक्रोश करता है तो लोक-व्यवहार में बात इतनी बुरी नहीं लगती। परंतु जो मित्र हैं, भलाई करने वाले हैं, उपकार करने वाले हैं, हितचिंतक हैं, समय पर काम आने वाले हैं—उन पर भी जो व्यक्ति आक्रोश करता है—वह सुविनीत नहीं हो सकता।

हकीम लुकमान का नाम हमने सुना है। बाल्यावस्था में वे एक घर पर नौकरी करते थे। उनका मालिक एक दिन ककड़ी खा रहा था, पर वह कड़वी निकल गई। मालिक ने बची हुई ककड़ी विनोद में लुकमान को खाने के लिए दे दी। मालिक का विश्वास था कि लुकमान खाएगा नहीं, कड़वी समझ उसे फेंक देगा। किंतु लुकमान ने सारी ककड़ी खा ली। मालिक को आश्चर्य हुआ और पूछ लिया—'क्या तुझे ककड़ी कड़वी नहीं लगी?' लुकमान ने विनम्रता से उत्तर दिया—"कड़वी तो लगी, किंतु मैंने सोचा—जिन हाथों से मुझे वर्षों मीठा-ही-मीठा खाने को मिलता रहा है, उन हाथों से यदि आज कड़वी चीज भी खाने को मिले तो मुझे प्रेम से खा लेना चाहिए। उसमें भी उतनी ही मधुरता का अनुभव करना चाहिए।'

सुविनीत शिष्य भी अपने मित्रों से कभी कुछ कटु उपहार मिलने पर उसे स्वीकार कर लेता है। प्रत्युपहार में आक्रोश नहीं करता, मैत्रीभाव को ही पुष्ट करता है।

सुविनीत शिष्य का अगला लक्षण बताया गया कि वह अप्रिय मित्र की भी एकांत में प्रशंसा करता है। कुछ व्यक्ति कृतघ्न होते हैं और कुछ व्यक्ति कृतज्ञ होते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र की बृहद् वृत्ति में इसका सुंदर चित्रण किया गया है—

एक सुकृतेन दुष्कृतशतानि ये नाशयन्ति ते धन्याः
न त्वेकदोषजनितो येषां कोपः स च कृतघ्नः॥

सुविनीत का एक लक्षण बताया गया है कि वह स्खलना होने पर किसी का तिरस्कार नहीं करता। जो व्यक्ति शिष्ट, शालीन और सभ्य होता है—वह स्खलित व्यक्ति की अवहेलना नहीं करता। उसको बदनाम नहीं करता, बात को फैलाता नहीं है। उसमें यह विवेक होता है कि कौन-सी बात समूह में कहनी चाहिए और कौन-सी बात एकांत में कहनी चाहिए। हमारी दुनिया में शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति मिलेगा, जिसने कभी भी गलती नहीं की और न ही भविष्य में करेगा। प्रायः हर व्यक्ति से किसी-न-किसी रूप में गलती हो ही जाती है। हां, यह अलग बात है कि आदमी गलती जानते हुए करता है या अनजान बनकर। किंतु गलती करने मात्र से उसके अनिष्ट की बात कही जाए तो यह उचित नहीं लगता। इसी कथन को बहुत सुंदर प्रस्तुति दी गई—

स्खलितः स्खलितो बध्यः, इति चेत् निश्चितं भवेत्।
द्वित्रा एवावशिष्येरन्, बहुदोषा हि मानवाः॥

स्खलित-स्खलित व्यक्ति को खत्म कर दो, यदि यह धारणा बन जाए तो दुनिया में दो-तीन आदमी ही बचेंगे, क्योंकि मनुष्य दोष-बहुल होता है। इसलिए गलती हो जाने पर भी जहां तक हो सके उसका परिष्कार करना चाहिए, तिरस्कार नहीं।

स्खलना किसी से भी हो सकती है, किंतु जो अविनीत होता है—वह उस स्खलित व्यक्ति की मजाक उड़ाता है और जो सुविनीत होता है वह उसको समाधान देता है, गलती को सुधारने का प्रयास करता है। कृतज्ञ व्यक्ति एक गुण को सामने रखकर सौ दोषों को भुला देता है। वह मात्र उस एक गुण को आधार मानकर उसकी प्रशंसा करता है, उसके प्रति मन में प्रमोद भावना रखता है। कृतघ्न व्यक्ति एक दोष को आधार मानकर उसकी निंदा करता है। उसके प्रति द्वेषभाव रखता है।

सुविनीत शिष्य अपकार करने वाले मित्र के भी पूर्व में किए गए किसी उपकार का स्मरण कर परोक्ष में भी उसका गुनगान करता है, प्रशंसा करता है। व्यक्ति दूसरों के गुणों का गुणगान कर स्वयं में उन गुणों का विकास कर सकता है। सुविनीत शिष्य प्रियता-अप्रियता की स्थिति में भी अप्रिय मित्र के दोष-दर्शन नहीं करता—गुणगान ही करता है, प्रशंसा ही करता है।

सुविनीत के लक्षणों में एक लक्षण यह भी बताया गया कि वह कलह और हाथापाई का वर्जन करता है। जो बात-बात में झगड़ा करता है, कलह करता है, अशोभनीय व्यवहार करता है, हाथापाई शुरू कर देता है—ये सब अविनीत के लक्षण हैं। जो झगड़े की, कलह की स्थिति आने पर भी मुस्कान या विनोद के साथ उसे निराकृत कर देता है और कटु वातावरण को सौहार्द में बदल देता है—वह सुविनीत होता है।

सुविनीत शिष्य स्वयं कलह, हाथापाई आदि नहीं करता। वह दूसरों के कलह को भी उपशांत करने का प्रयास करता है।

सुविनीत का एक लक्षण बताया गया कि वह आभिजातिक होता है, कुलीन होता है, अच्छे संस्कार वाला होता है। जिस काम को वह शुरू करता है, उसे पार पहुंचाता है, बीच में नहीं छोड़ता। जिसमें शालीनता, नैतिकता और संस्कारों से संस्कृत जीवन के प्रति आकर्षण होता है—वह कुलीन है। कुलीनता का संबंध धन-संपदा से नहीं, संस्कार-संपदा से है। झोंपड़ी में पलने वाला व्यक्ति भी कुलीन हो सकता है, यदि वह सुसंस्कारों में ढला है और अमीरों की कोठियों में पलने वाले व्यक्ति भी कुलीन नहीं होते—यदि उनमें ईमानदारी, नैतिकता और मानवता के संस्कार नहीं हैं। सुविनीत शिष्य अंत समय तक स्वीकृत मार्ग पर चलता है। संस्कारों की संपदा से संपन्न होता है, इसलिए वह कुलीन होता है।

सुविनीत के लक्षणों में बताया गया कि वह लज्जावान होता है। लज्जा अनेक गुणों की रक्षा करने वाली और अनेक दोषों से बचाने वाली है। लज्जा एक प्रकार का मानसिक संकोच है। लज्जालु वृत्ति वाला व्यक्ति अकरणीय के भय से भयभीत रहता है, इसलिए वह गलत काम नहीं करता, अनुचित आचरण नहीं करता। मन के विपथगामी बनने के बावजूद भी लज्जावान व्यक्ति उस पथ पर अग्रसर नहीं होता। अतः लज्जा एक बहुत बड़ा गुण है, जो अनेक बुराइयों से उबार देती है।

सुविनीत के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि वह 'पडिसंलीणे'—अर्थात् प्रतिसंलीन होता है। जो अपनी इंद्रियों और मन, वचन, काय को गुप्त रखने वाला होता है, अनावश्यक इधर-उधर नहीं घूमता है, हास्य, विकथा आदि

नहीं करता है, निष्प्रयोजन किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता, स्थिर योगी होता है, काम के समय काम करने वाला और रिक्त समय में स्वाध्याय-ध्यान करने वाला होता है—वह सुविनीत होता है। जो व्यक्ति इंद्रिय और मन की दासता को अस्वीकार कर, उन पर अपनी मालकियत रखता है—शब्द, रूप, गंध, रस व स्पर्श में उलझता नहीं, उनके प्रति राग-द्वेष भाव नहीं रखता, मात्र ज्ञाता-द्रष्टा भाव से उन्हें ग्रहण करता है—वह प्रतिसंलीन होता है।

सुविनीत या अविनीत एक साधु भी हो सकता है और एक गृहस्थ भी हो सकता है। गृहस्थ-समाज और साधु-समाज में अच्छे संस्कार आएं, सभी अपने-आप को सुविनीत बनाने का प्रयास करें तो अध्यात्म की दिशा में समाज आगे बढ़ सकता है।

जो व्यक्ति विनम्र होता है, वह लघुता का प्रयोग करता है। लघुता का प्रयोग करने का मतलब है—अपने-आप को ऊंचा उठाना। 'लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर'—व्यक्ति जितना स्वयं को नम्र बनाएगा, वह उतना ही ऊंचा उठता जाएगा। बड़ा बनने का रहस्य इतना-सा है कि बड़ा बनने से पहले छोटा बनो, स्वतः बड़े बन जाओगे। बड़प्पन का संबंध उम्र से कम, विनम्रता से अधिक है। श्रीमद् जयाचार्य के काव्य-ग्रंथों में विनीत-अविनीत का बहुत सुंदर चित्रण किया गया है। उन्होंने विनीत शिष्य को बहुत महत्त्व दिया है। वे एक जगह लिखते हैं—

एहवा शिष्य सुविनीत रो, सर्व कार्य में सार।
गणपति नै आधार छै, धरा सहै जिम भार॥

विनीत शिष्य आचार्य के लिए सब कार्यों में आधारभूत होता है। जैसे—पृथ्वी सब भार को सहन करती है, सबका आधार होती है—ऐसा सुविनीत शिष्य धन्य होता है जो स्वयं प्रशांतचित्त रहता है और आचार्य को भी समाधि पहुंचाता है। ऐसे शिष्य का वर्तमान जीवन तो सफल बनता ही है, उसके लिए सुगति के द्वार भी उद्घाटित हो जाते हैं। ❖

वह सिद्धांत, जो मनुष्य को स्वभावतः पापी समझता है, मुझे भय है, सत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। हमारी प्रकृति तो दैवी है। जो भी पुरुष संसार में आता है, वह ईश्वरीय ज्योति से युक्त रहता है। 'यदि मैं तुममें न होता तो तुम हमारी खोज नहीं कर सकते थे।' गेटे का कहना है—'यदि आंखें स्वयं सूर्य न होतीं तो उन्हें सूर्य-प्रकाश का ज्ञान ही कभी न होता। यदि हमारा हृदय दिव्य न होता तो किसी भी दिव्य वस्तु की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी।'

इस दृष्टि से पाप-वृत्ति-त्याग किसी नवीन वृत्ति का आविर्भाव नहीं है। यद्यपि यह पूर्व जीवन-पद्धति में आकस्मिक विपर्यय अवश्य है। मुक्ति अपने भीतर के देवत्व के क्रमिक विकास का परिणाम है, ईश्वरीय करुणा का फल नहीं। मुक्ति-क्रिया के आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी आत्मा के विकास में परमात्मा बाहर की अपेक्षा उसके भीतर से ही अधिक काम करता है। दया एवं विकास एक ही क्रिया के दो पक्ष हैं, यद्यपि पहले में एक प्रकार के आध्यात्मिक चमत्कार अथवा शांति का-सा संकेत मिलता है और दूसरे में ईश्वर तथा मनुष्य की अविच्छिन्न एकता की सूचना निहित है।

अपने पैतृक देवत्व की प्राप्ति के लिए मनुष्य के लिए तीन प्रकार की साधना का निर्देश किया गया है जो चेतन-जीवन के तीनों अंगों के अनुरूप है। उपनिषत्काल में ईश्वर को प्रधानतः नित्य, सत्य अथवा प्रकाश समझा जाता था और मनुष्यों को बताया गया था कि ईश्वर-साक्षात्कार के लिए उन्हें श्रद्धा एवं ज्ञान का मार्ग ही अपनाना चाहिए। भगवद्गीता के युग में ईश्वर का प्रेम-रूप प्रबल हो जाता है और मुक्ति का मुख्य साधन भक्ति बन जाता है। बौद्ध एवं शैव प्राचीन यहूदियों की भांति ईश्वर को शाश्वत न्यायाधीश समझने लगे और तप अथवा कठोर सरलता एवं आत्म-विसर्जन का जीवन प्रमुख बन गया। ज्ञान, भक्ति तथा तप में से कोई भी हमारे संपूर्ण जीवन को शुद्ध कर देने में समर्थ है।

—डॉ. राधाकृष्णन्

धर्म एक वैज्ञानिक/मनोवैज्ञानिक जीवन पद्धति है। किंतु सम्यक् बोध के अभाव में वह मात्र रूढ़ि या निष्प्राण परंपरा बनकर रह जाता है। उपवास भी एक पवित्र धार्मिक आराधना है। उसमें अनेक वैज्ञानिक रहस्य छिपे हुए हैं। आज वह रूढ़ि या प्रदर्शन की वस्तु बन गया है। उसका वैज्ञानिक स्वरूप नेपथ्य में चला गया है। इसीलिए वह नई पीढ़ी को कम आकर्षित करता है। धार्मिक परंपराओं को जीवंत और तेजस्वी बनाए रखने के लिए जन-आस्थाओं को भी मजबूत बनाए रखना आवश्यक है। आस्थाएं ही हमारी धार्मिक, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास की सुदृढ़ नींवें हैं। उपवास को भी विज्ञान, मनोविज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान के संदर्भ में समझना अति आवश्यक है।

उपवास : आत्मा का उजास

❑ साध्वी कनकश्री ❑

'ऋषि आश्रम में उपकौशल उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहा था। शिक्षा-क्रम पूरा हुआ। सहपाठियों को घर जाने की अनुज्ञा मिली, पर उपकौशल को नहीं मिली। वह खिन्न हो गया। प्रतीक्षा करने लगा अवकाश की। गुरु यात्रा की तैयारी करने लगे। वह म्लान-मुख गुरु-चरणों में उपस्थित हुआ। जाते-जाते गुरु ने उसकी ओर निहारा, आंखों के भीतर झांका, भावों को पढ़ा और बोले—'वत्स! मन को एकाग्र करो, इंद्रियों को वश में करो, तुम्हारा कल्याण हो।' गुरु यात्रा हेतु प्रस्थित हो गए। संकल्प-विकल्पों की झील में गोते लगाता उपकौशल का मन भी भीतर की ओर मुड़ा। एकांत स्थल, मौनपूर्वक उपवास। अंतर्यात्रा का द्वार खुल गया। सब आश्चर्यचकित थे। एक सप्ताह बीता। गुरु-पत्नी ने इसका कारण पूछा। उसने कहा—'मेरा मन प्रदूषित है, वासना और लालसा से आक्रांत है। इंद्रियां उद्धत हैं। अज्ञानवश गुरु के प्रति भी रोष जागा। उसी का प्रायश्चित्त कर रहा हूं।' शिष्य की आत्मलीनता और संकल्प की दृढ़ता ने आचार्या (ऋषि-पत्नी) को अति प्रभावित किया।

'दस दिन बीते। गुरु आए। शिष्य के मुख पर अद्भुत चमक और परिवर्तन देख विस्मित/आह्लादित हुए। पूछा—'तुम्हारा मुखमंडल इतना दीप्तिमान कैसे हुआ?' उसने विनयपूर्वक निवेदन किया—'आपका अनुग्रह बरसा। चित्त अंतर्मुखी हुआ। उपवास से शोधन और निरोध का मार्ग प्रशस्त हुआ। गुरुदेव की महती कृपा से मेरी साधना सफल-सार्थक सिद्ध हो रही है, ऐसा अनुभव हुआ है।' शिष्य का आत्म-निवेदन सुन गुरु हर्षविभोर हो उठे। वात्सल्य का अमृत उंड़ेलते हुए बोले—'तुम्हारा उत्तम पुरुषार्थ सफल हुआ है। पर; आयुष्मन्! एक बार के नियम-अभ्यास से उपलब्धियों में स्थायित्व नहीं आता, अतः अपेक्षा है—अभ्यास का यह क्रम निरंतर चलता रहे।'

इस पौराणिक घटना-प्रसंग में अनेक दिव्य संदेश सन्निहित हैं। उनमें एक है—चित्तवृत्तियों के शोधन एवं इंद्रिय-संयम के संवर्धन हेतु उपवास अत्युत्तम उपाय है। उसके यथोचित, संतुलित अभ्यास-प्रयोग से मनोदैहिक रोगों का उपचार, अकल्पित चमत्कार एवं आत्म-साक्षात्कार तक उपलब्ध होता है।

भगवान श्री महावीर ने काय-सिद्धि, चित्तशुद्धि और बंधनमुक्ति के लिए बारह प्रकार के तपोमार्ग की प्रविधि प्रस्तुत की। जैन साधना पद्धति में वह द्वादशांग तपोयोग के रूप में सुपरिचित है। द्वादशांग तपोयोग का पहला सूत्र है—अनशन—भोजन का परिहार। यह अनशन ही उपवास के रूप में आज महिमा-मंडित हो रहा है।

विश्वमान्य धार्मिक अनुष्ठान

विश्व परिदृश्य पर विशेष अनुष्ठान के रूप में प्रतिष्ठित एक धार्मिक उपक्रम का नाम है—उपवास। दुनिया के लगभग सभी धर्मग्रंथों में उपवास का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। यह अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विश्वमान्य धार्मिक

उपक्रम है। जैन, बौद्ध, हिंदू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि—सभी मतावलंबी धर्म-निष्ठा से उपवास करते हैं।

हिंदू धर्म में उपवास साधना का अनिवार्य अंग है। वेद-पुराण, गीता-रामायण, उपनिषद आदि सभी धर्म-शास्त्रों में उपवास की चर्चा है। आत्मबोध के लिए सात्त्विक आहार की भांति उपवास करने का भी विधान है।

कर्मेन्धनं यदज्ञानात् संचितं जन्म-काननें।
उपवासशिखी सर्वं तद् भस्मीकुरुते क्षणात्॥

उपवास वह आग है, जो जन्म-जन्मांतरों के जंगल में अज्ञानवश प्रचुर मात्रा में संचित कर्म-ईंधन को क्षण-भर में भस्म कर देता है।

गीता में तो यहां तक उल्लेख है कि वेद से बड़ा कोई शास्त्र नहीं है, मां से बड़ा कोई गुरु नहीं है, धर्म से बड़ी कोई उपलब्धि नहीं है और अनशन से बढ़कर कोई तप नहीं है।

नास्ति वेदात्परं शास्त्रं, नास्तिमातृ समो गुरुः।
न धर्मात्परमो लाभो, तपो नानशनात्परम्॥

(अनुशासनपर्व)

अन्यत्र यह भी कहा गया है कि उपवास के समान कोई तपःकर्म नहीं है।

उपवासैस्तथा तुल्यं, तपःकर्म न विद्यते॥

हिंदू धर्म में उपवास व्रत के रूप में प्रतिष्ठित है। विशिष्ट तिथियों, पर्वों एवं त्योहारों पर विविध उद्देश्यों व कामनाओं की पूर्ति हेतु उपवास किए जाते हैं।

जैन धर्म की साधना पद्धति का अभिन्न अंग है—उपवास तप। भगवान महावीर ने दीर्घकाल तक निराहार-निर्जल तप किया। आज भी अनेक जैन श्रमण, श्रमणियां, श्रावक व श्राविकाएं प्रतिवर्ष लंबे उपवास करते हैं। हजारों साधक वर्षों तक एकांतर उपवास करते हैं। भगवान महावीर ने अहिंसा, संयम और तपोमय धर्म को उत्कृष्ट मंगल बताया है। उन्होंने कहा—'कोटि जन्मों से संचित कर्म तप से क्षीण हो जाते हैं।'

बौद्ध भिक्षु भी तपश्चर्या के रूप में उपवास करते हैं। तथागत बुद्ध ने बोधि-प्राप्ति से पूर्व उपवास तप किया था। चीन में मकर संक्रांति से दैवीय विधायक ऊर्जा (यांग) के प्रवाह का प्रारंभ माना जाता है। इसे प्राप्त करने हेतु निर्धारित संख्या में उपवास किए जाते थे।

ईसाई धर्म में भी ईश्वरकृपा एवं सहानुभूति प्राप्त करने के लिए, बुराइयों तथा बुरी शक्तियों से बचाव के लिए, पाप-निरोध और आत्म-नियंत्रण के लिए उपवास करने का विधान है। कहते हैं—जीसस ने भारत के पालीताणा में चालीस दिन का उपवास किया था। सेंट डेनियल ने दैवीय-दर्शन के लिए उपवास किए। संत दाऊद ने विनम्रता की प्राप्ति के लिए उपवास का आलंबन लिया। पश्चिम में सामान्यतः ईस्टर के समय चालीस दिन का उपवास किया जाता है। उसका समापन 'गुड फ्रायडे' को होता है।

इस्लाम में नमाज, जकात, हज आदि बुनियादी धार्मिक कृत्यों में एक है—रोजा। यह अरबीमूल के सोम शब्द का पर्याय है। हदीस में कहा है—'अस्सवमु जुन्नतुन' यानी रोजा ढाल है। यह आदमी को गुनाहों से बचाता है। रोजा का अर्थ बताया गया—रुक जाना। कुरआने करीम—रोजा सब मुसलमानों का फर्ज है। रोजा उपवास का एक रूप है, जो चांद की साक्षी से खोला जाता है।

इसी प्रकार साइबेरिया, अमरीकन-इंडियन कबीलों एवं युनाइटेड स्टेट्स के उत्तर-पश्चिमी इलाकों में भी किसी-न-किसी रूप में उपवास किए जाते हैं—ऐसा शोध-विद्वान मानते हैं। उनका विश्वास है कि उपवास के समय ईश्वर सपनों के माध्यम से दैवीय शिक्षा देता है। पेरू में पादरी के समक्ष पापों को स्वीकारने के लिए उपवास जरूरी माना जाता है। 'जुडेइज्म' में प्रायश्चित्त के दिन तथा अन्य उत्सवों के समय उपवास का विधान है। इन सब तथ्यों का निष्कर्ष है कि उपवास सभी धर्मों और सभी देशों में धार्मिक आस्था के साथ जुड़ा हुआ व्यापक उपक्रम है।

उपवास है उपलब्धियों-भरा खजाना

अध्यात्म विज्ञान में आहार की पवित्रता और प्रभावोत्पादकता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। साधना का प्रारंभ आहार-शुद्धि के व्रत से ही होता है। उपवास से आहार-शुद्धि सहज फलित होती है। सभी प्रकार की आध्यात्मिक साधनाएं उपवास-प्रधान होती हैं। अपने अंतःकरण में विराजमान ईश्वर के प्रकटीकरण की कला या साधना का नाम है उपवास। इसका शाब्दिक अर्थ है समीप रहना—आत्मा का सामीप्य साधना, परमात्मा का सामीप्य साधना। धार्मिक अनुष्ठान होते हुए भी विशिष्ट उपलब्धियों-भरा खजाना है—उपवास। जैसे खाद्य पेय पदार्थ, औषध, रसायन आदि तन की खुराक हैं, वैसे ही मन-प्राणों की खुराक है—उपवास। आहार-परिहार के संदर्भ में दो शब्द प्रयुक्त होते हैं, एक है लंघन—यह चिकित्सा-मूलक है। दूसरा है उपवास—यह अध्यात्म-प्रधान है। जब

देह का कोलाहल शांत होता है, तब उपवास घटित होता है। उपवास का फलित है—आत्मा के निकट होना, आत्मा के पड़ोस में होना। यह तभी संभव है, जब पार्थिव हलचल शांत हो, निष्क्रिय हो। उपवास में आत्मा के साथ संवाद स्थापित हो सकता है। उपवास चेतना की दिशा में उठा हुआ पहला कदम है। उसका लक्ष्य मात्र आहार-त्याग नहीं, इंद्रिय-संयम, मन का नियमन और सहिष्णुता का विकास है। आध्यात्मिक विकास के लिए तन-मन का स्वस्थ होना आवश्यक है। यथार्थ में क्रोध, मान, माया और लोभ का उपवास ही उपवास है। इनमें से किसी एक का उपवास भी बड़ी घटना है। इसी का संवादी कथन है—

कषाय विषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लंघनकम् विदुः।

जहां कषाय, इंद्रिय-विषय और आहार—इन तीनों का त्याग होता है, वहीं उपवास घटित होता है। मात्र आहार-वर्जन तो लंघन की कोटि में आता है।

उपावृत्तस्य पापेभ्यो, यस्तु वासो गुणैः सह।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकम् विदुः॥

पापों से निवृत्त होकर गुणों के साथ वसना-रहना उपवास है। शेष लंघन है। ऐसा उपवास देह और आत्मा के बीच सेतु का काम करता है। उस सेतु के माध्यम से, देह-संयम के सिरे से विदेह-आत्मा की निर्मलता के सिरे तक सुगमता से पहुंचा जा सकता है।

उपवास के बदले में अंग्रेजी में 'फास्ट' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस की विशद व्याख्या करें तो अनेक रहस्य अनावृत हो सकते हैं। जरा 'फास्ट' की अर्थ यात्रा करें—

'फास्ट'—तेज चलना—उपवास में स्थूल देह की गति/क्रियाशीलता कम हो जाती है और सूक्ष्म शरीर तथा आत्मा की गति तेज हो जाती है; काया शांत, मौन, निश्चेष्ट प्रतीत होती है; भीतर की आंख खुल जाती है। ऐसे अनशन को ही उपवास की गरिमा प्राप्त होती है।

'फास्ट'—जल्दी विचलित न होना। उपवास से भावुकता और आसक्ति पर नियंत्रण स्थापित होता है। आसक्ति इतनी शिथिल हो जाती है कि चित्त-वृत्तियां बाहरी प्रभावों से कम प्रभावित होती हैं। शरीर और इंद्रियों के समस्त रस-स्वाद अनुपस्थित हो जाते हैं कि मनःस्थिति को उखाड़ना असंभव हो जाता है।

'फास्ट'—सशक्त, सुदृढ़, पूरी तरह बंधा हुआ, कसा हुआ। उपवास में व्यक्ति संकल्प से बंधा हुआ होता है। उपवास की कुछ मर्यादाएं होती हैं, उनका पालन उसके लिए अनिवार्य होता है। 'फास्ट' के अन्य अनेक अर्थ भी किए जाते हैं, जैसे—सुरक्षित, समय से आगे, परिपूर्ण, निरंतर आदि। ये सब भी उपवास के प्रयोग काल में सार्थक परिलक्षित होते हैं।

धर्म एक वैज्ञानिक/मनोवैज्ञानिक जीवन पद्धति है। किंतु सम्यक् बोध के अभाव में वह मात्र रूढ़ि या निष्प्राण परंपरा बनकर रह जाता है। उपवास भी एक पवित्र धार्मिक आराधना है। उसमें अनेक वैज्ञानिक रहस्य छिपे हुए हैं। आज वह रूढ़ि या प्रदर्शन की वस्तु बन गया है। उसका वैज्ञानिक स्वरूप नेपथ्य में चला गया है। इसीलिए वह नई पीढ़ी को कम आकर्षित करता है। धार्मिक परंपराओं को जीवंत और तेजस्वी बनाए रखने के लिए जन-आस्थाओं को भी मजबूत बनाए रखना आवश्यक है। आस्थाएं ही हमारी धार्मिक, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास की सुदृढ़ नीवें हैं। उपवास को भी विज्ञान, मनोविज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान के संदर्भ में समझना अति आवश्यक है।

उपवास और आरोग्य

आरोग्य के आधारभूत तत्त्व दो हैं—रोगों से बचाव/सुरक्षा तथा उपचार। उपवास दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। रोगों से बचाव की दृष्टि से हमारे धर्म-प्रवक्ता प्रारंभ से ही जागरूक रहे हैं। तीन-चार दशकों से विश्व स्वास्थ्य संगठन भी इस दिशा में सक्रिय है।

चिकित्साशास्त्र के अनुसार रोगों की जड़ है—पाचन संस्थान की गड़बड़ी, अपच, कब्ज, कोष्ठ-बद्धता, मंदाग्नि, अम्लपित्त, वायु-विकार तथा इनके कारण अन्य भी अनेक बीमारियां उत्पन्न होती हैं। सम्यक् पाचन के अभाव में शरीर के निर्माणकारी घटकों का बनना रुक जाता है। इससे शरीर की रोग-प्रतिरोधक शक्ति क्षीण होने लगती है। उपवास से पाचन तंत्र को विश्राम मिलता है। भीतर की साफ-सफाई होती है। दोषयुक्त भोजन, अतिश्रम और दूषित जीवन पद्धति के निरंतर दबाव से पीड़ित पूरे शरीर तंत्र को उपवास से विश्राम मिलता है। इससे उसे शोधन का पर्याप्त अवसर मिलता है। आंतरिक शक्ति जागती है।

चरक, सुश्रुत आदि में देह-शुद्धि के उपायों की चर्चा है। उनमें एक है लंघन। उपवास लंघन का ही एक रूप है। लंघन—लाघव का, हल्केपन का निमित्त बनता है।

अश्विनीकुमार ने पूछा—'वह कौन-सा औषध है, जो न आकाश से टपकता है और न धरती से उत्पन्न होता है?'

आयुर्वेद के महान आचार्य वाग्भट ने कहा—'वह औषध है उपवास।' इतिहास साक्षी है—अनेक साधकों/तपस्वियों ने बिना किसी औषध-प्रयोग के मात्र उपवास के द्वारा गंभीर रोगों से छुटकारा प्राप्त किया। प्राचीन समय में कुछ रोगों के शमन हेतु औषधोपचार के साथ भी उपवास कराए जाते थे। वर्तमान में उपवास-चिकित्सा (फास्टिंग थेरापी) काफी विकसित हो रही है।

महात्मा गांधी ने उरुली-कांचन (पूना) में प्राकृतिक उपचार केंद्र खोला। आचार्य बिनोबा भावे के मार्ग-दर्शन में वहां उपवास-चिकित्सा के अनूठे प्रयोग संपन्न होते थे। प्राकृतिक चिकित्सा और उपवास-चिकित्सा के विशेषज्ञ अमरीकी डॉक्टर हर्बर्ट एम सैल्टन ने उपवास-चिकित्सा पर एक पुस्तक लिखी है—'फास्टिंग केन सेव योर लाइफ'—उपवास से जीवन-रक्षा। यह पुस्तक काफी प्रचारित हुई। इसमें उपवास द्वारा अनेक रोगों के उपचार की प्रक्रिया और उससे संबंधित प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध है।

शिकागो की 'इंटरनेशनल कॉलेज ऑव ड्रगलेस फिजिक्स'—अंतरराष्ट्रीय ओषधिविहीन भौतिकी महाविद्यालय—के चिकित्सा-प्राध्यापकों ने उपवास के द्वारा कई घातक रोगों को ठीक किया है। पेट के असाध्य रोग, विषाक्त फोड़े, असाध्य रक्ताल्पता आदि रोगों की उपवास द्वारा चिकित्सा की गई और उनके चौंकाने वाले परिणाम सामने आए। रूसी चिकित्सक डॉ. ब्लादीमीर ने स्वयं 45 दिन का उपवास किया और भयंकर जोड़ों के दर्द से मुक्ति प्राप्त की।

प्रेक्षाध्यान प्रवर्तक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—उपवास से शरीरगत दोषों का नाश होता है। उसके साथ चक्षुरोग, ज्वर और व्रण भी ठीक हो जाते हैं। इसका हमने भी प्रयोग किया और अनुकूल प्रभाव देखा। चरक (अध्याय 14) में उपवास के परिणामों की चर्चा करते हुए बताया गया है—लंघन या उपवास के सम्यक् प्रयोग से इंद्रियों की निर्मलता, मलों का निष्कासन, लघुता, भोजन की रुचि, उचित भूख-प्यास, हृदय, उद्‌गार और कंठ की शुद्धि, उत्साह-वर्धन, आलस्य तथा तंद्रा का नाश—ये सब सहज रूप से घटित होने लगते हैं।

साधना, स्वास्थ्य और आहार में गहरा संबंध है। सामान्यतः यह लोक-धारणा है कि प्राणी आहार से जीता है—यह एक भ्रांति ही है। सचाई यह है कि स्वस्थ और दीर्घ जीवन का आधार है—अनाहार। यूरोप के ब्रूसेल्स विश्वविद्यालय में एक प्रयोग किया गया। कुछ चूहों को निरंतर गरिष्ठ आहार दिया गया और दूसरे समूह को सादा भोजन दिया गया, वह भी एक दिन छोड़कर। परिणाम आया—पहले समूह के चूहों की मृत्यु दो वर्ष पहले हो गई जबकि दूसरे वर्ग के चूहे दो वर्ष अधिक जीवित रहे। जैन धर्म में एक दिन के अंतराल से भोजन लेना, यानी एकांतर उपवास करना—यह विधि बहुत प्राचीन है और व्यापक भी है। वैज्ञानिक निष्कर्ष भी है कि एक दिन खाना और एक दिन न खाना—यह क्रम लंबे समय तक चले तो मनुष्य की आयु पांच वर्ष बढ़ सकती है।

अणुव्रत प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी की पूज्या मातुश्री साध्वीश्रेष्ठा वदनाजी ने 97 वर्ष की दीर्घायु प्राप्त की। स्वस्थ जीवन जीया। आचार्यश्री तुलसी ने कहा मातुश्री के स्वस्थ और दीर्घ जीवन का रहस्य है उपवास और आहार-संयम। वे वर्षों तक निरंतर एकांतर उपवास करती रहीं और भोजन के दिन भी बहुत कम द्रव्यों का, कम मात्रा में प्रयोग करती थीं। जैन, तेरापंथ की परंपरा में ऐसे अनेक आध्यात्मिक व्यक्तित्व हुए हैं, जिन्होंने लगातार चार-चार, छह-छह माह के उपवास किए। वर्षों तक एकांतर उपवास किए या दो-दो-तीन-तीन दिन के अंतराल से भोजन ग्रहण किया। इन प्रयोगों से उन्होंने आध्यात्मिक ऊंचाइयों का स्पर्श किया। अलौकिक क्षमताओं का जागरण किया। वे शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य के साथ आध्यात्मिक अनुभवों की अकूत संपदा के स्वामी बन गए। इन सब संदर्भों के अध्ययन से यह विश्वास परिपुष्ट हो जाता है कि धार्मिक आस्थाओं से अनुबंधित उपवास आध्यात्मिक उजास का स्रोत है। ❖

सत्य की आराधना भक्ति है और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है; अथवा वह 'हरि का मार्ग' है, जिसमें कायरता की गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नाम की कोई चीज है ही नहीं। वह तो 'मरकर जीने का मंत्र' है।

—मो. क. गांधी

मैत्री के प्रयोग से कितने ही मुरझाए मन मुस्करा उठते हैं। उदास और खिन्न चेहरों पर खुशियां छा जाती हैं। नकारात्मक भावों का सिलसिला थमता है, शुभ भावों का संचार होने लगता है। मनुष्य अपने करणीय और अकरणीय का विवेक करता हुआ, दुश्चिंतन से, अपशब्दों के प्रयोग से, कुचेष्टाओं अथवा दुष्प्रवृत्ति से अपने-आप को मुक्त रखने की कोशिश करता है। इसी प्रकार वह अतीत में हुई गलतियों को भी भूलने तथा उनकी पुनरावृत्ति न करने का संकल्प करता है। ये ही सब चीजें आदमी को अपने कर्तव्य के प्रति सचेत करती हैं। सजग अथवा जागरूक व्यक्ति ही प्रमाद से खुद को बचा सकता है।

मैत्री की महत्ता

❑ मुनि तत्वरुचि 'तरुण' ❑

मौत और भय के साए में जी रही आज की दुनिया को शांति और अभय का वरदान कोई यदि दे सकता है तो वह व्यक्ति का उदात्त मैत्री का अपना भाव ही हो सकता है। मैत्री; किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति नहीं, बल्कि वैसी मैत्री तो प्राणीमात्र के प्रति होती है।

संपूर्ण जीव-जगत के प्रति संयम, समता और आत्म-तुला का भाव ही मैत्री है। संसार का कोई भी जीव मेरा वैरी अथवा दुश्मन नहीं है। सभी के प्रति मेरी सद्भावना है, कल्याण की कामना है। प्राणीमात्र के प्रति यह विधायक चिंतन ही मनुष्य के मन में मैत्री का भाव विकसित कर सकता है। मैत्री-भाव के पुष्ट होने पर कोई किसी का शत्रु नहीं होता।

शत्रुता, वैर-विरोध, घृणा, द्वेष आदि निषेधात्मक भावों का जब अनुदय होता है और समभावों का उदय होता है तभी जीवन में मैत्री का अभ्युदय होता है। मैत्री का ऐसा मुखर भाव पारस्परिक तनाव को भी कम करता है। शांति और अभय का माहौल निर्मित होता है। सब लोग आपसी विश्वास के वातावरण में सुख और अमन-चैन के साथ रह सकते हैं। मैत्री के इर्द-गिर्द कोई भी किसी से डरता नहीं है।

भगवान महावीर के समवसरण में दो विरोधी प्राणी बिना किसी डर और भय के उपस्थित होकर उनके उपदेश का श्रवण करते थे। कारण क्या था? यही कि भगवान महावीर का मैत्री-भाव समस्त जीव-जगत के प्रति था। उनसे निकलने वाली मैत्री की वे पवित्र रश्मियां आस-पास के वातावरण को मैत्रीमय बना देती थीं। इससे शत्रु भी अपनी शत्रुता को छोड़ मैत्री की धारा में बहने लगता था।

मैत्री पर्व पर विशेष

क्रुद्ध व्यक्ति भी उनके आभामंडल में प्रवेश करने के पश्चात् शांत और शीतल हो जाता था। भगवान महावीर का आभामंडल प्रशस्त और पवित्र शुक्ल परमाणुओं से निर्मित था। व्यक्ति का आभामंडल पवित्र तभी रह सकता है, जब उसके भावों में मैत्री की धारा प्रवाहित हो रही हो।

यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि हमारा आभामंडल स्वयं को और दूसरों को प्रभावित करता है। वस्तुतः आभामंडल हमारी अपनी भावधारा को ही प्रतिबिंबित करता है। भावधारा विशुद्ध होती है तो आभामंडल भी पवित्र होता है। अपेक्षा इस बात की है कि हमारे भाव पवित्र कैसे रहें? अशुद्ध भावों का परिशोधन किस प्रकार हो? अनुप्रेक्षा का प्रयोग भावों के परिष्कार का उत्तम उपाय है। जितने भी नकारात्मक भाव हैं, उन सभी की शुद्धि अथवा उनका रूपांतरण अनुप्रेक्षा के द्वारा संभव है।

निषेधात्मक भाव व्यक्ति की प्राणशक्ति को कमजोर बनाते हैं। प्राणशक्ति की दुर्बलता अनेक समस्याओं को जन्म देती है। अध्यात्म विज्ञान के अनुसार प्राण वह शक्ति है जो प्राणी को अंत तक सक्रिय रखती है। उसे अनेक आपदाओं-विपदाओं से बचाती है। प्राण हमारी शारीरिक स्वस्थता की चाबी है, मानसिक प्रसन्नता और मनोबल या संकल्पबल का आधार है और

भावनात्मक स्तर पर आवेग-संवेग के संयोजन-नियोजन का 'रिमोट' है। प्राणशक्ति की सुरक्षा और विकास के लिए जरूरी है कि निषेधात्मक चिंतन से ऊपर उठें और उससे निजात पाएं। निषेधात्मक चिंतन से मुक्ति का एक सरल और सटीक साधन है—अनुप्रेक्षा।

भय एक निषेधात्मक भाव है। जहां भय है वहां दूसरे के प्रति मैत्री का भाव कैसे हो सकता है? शत्रुता की भावना या दूसरों के प्रति वैर-विरोध की भावना, अहित, अनादर और अविनय की भावना भय की स्थिति में अधिक पैदा होती है। भयमुक्त व्यक्ति का न कोई शत्रु होता और न उसके मन में किसी के प्रति वैर का भाव होता है। वास्तव में निर्वैर-भाव ही सबकी भावनाओं को विशुद्ध बनाता है। निर्भय या अभय की चेतना सबको निश्चिंत बनाती है। वहां किसी के मन में शंका-संदेह नहीं होता। सभी परस्पर विश्वास का आश्वास लेकर जीते हैं। मैत्री-भाव का विकास भयमुक्त वातावरण में ही हो सकता है।

कठोरता का व्यवहार व्यावहारिक जीवन में कटुता पैदा करता है। वह व्यक्ति को कुंठाग्रस्त भी बनाता है। भीतर-ही-भीतर अनादर और अनास्था को जन्म देता है। कोमलता अथवा मृदुता का व्यवहार पारिवारिक और सामाजिक जीवन में सरसता और समरसता की स्थितियों का निर्माण करता है। मृदुता ही मधुरता की जननी है। मधुरता आपसी रिश्तों और संबंधों में प्रेम और मैत्री का रस उंड़ेलकर उन्हें सरस बना देती है। व्यवहार में मैत्री का विकास मृदुता के जरिए आसानी से किया जा सकता है।

मैत्री-भाव को बढ़ाने के लिए व्यवहार में मृदुता की आवश्यकता है। मृदुता का विकास तन, मन और वाणी की कोमलता से होता है। नमस्कार करना, आसन देना, सम्मान देना आदि कायिक विनम्रता है। वहीं गुणग्राही होना, सम्मान-सूचक शब्दों का प्रयोग करना, कृतज्ञता प्रकट करना या खेद प्रकट करना, क्षमा की याचना करना आदि वाणी की विनम्रता है। हितचिंतन, कल्याण की कामना, सद्भावना, अनाग्रह की वृत्ति का होना मानसिक विनम्रता है। कायिक, वाचिक और मानसिक विनम्रता हर व्यक्ति को आकृष्ट करती है। पत्थर-सा कठोर दिल भी विनम्रता के आगे नरम पड़ जाता है। विनम्रता प्रतिकूल को भी अनुकूल बना देती है। विनम्रता से बड़ी-से-बड़ी उपलब्धि भी संभव हो जाती है।

विनम्रता एक प्रेरणा है स्वयं के विकास की और दूसरों को सन्मार्ग पर लाने की। दूसरे को झुकाने में बड़ी-से-बड़ी ताकत जहां विफल हो जाती है, वहां विनम्रता की शक्ति बिना किसी दबाव के स्वतः ही सामने वाले को झुकने के लिए प्रेरित कर देती है। विनम्रता मृदु व्यवहार की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। मृदुता शत्रुता के कल्मष को धोकर व्यक्ति में मैत्री का संचार कर देती है, लेकिन इसके लिए अपने अहंभाव का विसर्जन जरूरी है। अन्यथा मैत्री का विकास संभव नहीं। अहंकार होता है, वहां बड़ों के प्रति भी विनम्र व्यवहार करना कठिन होता है, फिर छोटों के साथ तो सोचा भी कैसे जा सकता है? मृदुता के व्यवहार में और मैत्री के विकास में अहंकार बहुत-भारी बाधा है। सामाजिक रिश्तों और मानवीय संबंधों की खाई को अहंविलय और मृदु-व्यवहार से ही पाटा जा सकता है।

मैत्री के विकास में दृष्टिकोण का परिवर्तन भी जरूरी है। जहां दृष्टिकोण पराभिमुखी होता है, वहां व्यक्ति अपनी कमियों, गलतियों अथवा त्रुटियों के लिए दूसरों को दोषी ठहराने की कोशिश करता है। यह दृष्टिकोण का विपर्यास है। यथार्थ के धरातल पर चिंतन करने वाला स्वाभिमुख होकर अपने दोषों के लिए स्वयं को जिम्मेदार मानता हुआ, उन्हें सुधारने की कोशिश करता है। सत्याभिमुखी व्यक्ति दूसरे पर दोषारोपण कर अकारण शत्रुता पैदा नहीं कर सकता। लेकिन पराभिमुखी व्यक्ति मिथ्या धारणा और दृष्टि की संकीर्णता के कारण दूसरों को अपना शत्रु बना लेता है। सत्यान्वेषी, व्यापक और उदार दृष्टिकोण वाला व्यक्ति मैत्रीभाव को पुष्ट और विकसित करता है।

जैन धर्म में मैत्री का पर्व मानसिक कलुषताओं को धोने का, आपसी कटुताओं को मिटाने का, पारस्परिक संबंधों को मधुर बनाने का, सहिष्णुता को विकसित करने का, शक्ति को बढ़ाने का और पवित्रता की आराधना का एक महान पर्व है।

मैत्री के प्रयोग से कितने ही मुरझाए मन मुस्करा उठते हैं। उदास और खिन्न चेहरों पर खुशियां छा जाती हैं। नकारात्मक भावों का सिलसिला थमता है, शुभ भावों का संचार होने लगता है। मनुष्य अपने करणीय और अकरणीय का विवेक करता हुआ, दुश्चिंतन से, अपशब्दों के प्रयोग से, कुचेष्टाओं अथवा दुष्प्रवृत्ति से अपने-आप को मुक्त रखने की कोशिश करता है। इसी प्रकार वह अतीत में हुई गलतियों को भी भूलने तथा उनकी पुनरावृत्ति न करने का संकल्प करता है। ये ही सब चीजें आदमी को अपने कर्तव्य के प्रति सचेत करती हैं। सजग अथवा जागरूक व्यक्ति ही प्रमाद से खुद को बचा सकता है।

अजागरूक व्यक्ति प्रमादी होता है। शत्रुता के विचारों में प्रमादी खोया रहता है। जहां शत्रुता है वहां भय बना रहता है। प्रमादी को भय सताता है, अप्रमत्त को कोई भय नहीं होता है। भय और शत्रुता के चलते मैत्री कभी हो नहीं सकती। मैत्री के लिए शत्रुता और द्वेष के भाव से मुक्त होना होगा। अभय की चेतना का विकास करना होगा।

समता के लिए सहिष्णुता जरूरी है। उतना ही जरूरी है मैत्रीभाव को स्थाई बनाने के लिए सहनशीलता को बढ़ाना। सहिष्णुता के बिना मैत्री टिक नहीं पाती। क्योंकि थोड़ा-सा प्रतिकूल व्यवहार हुआ कि मन में बुरे भाव आने लगेंगे। सहनशीलता की कमी के कारण ही ऐसा होता है। असहिष्णुता की स्थिति में न समता टिक पाती है और न ही मैत्री। सहिष्णुता तो मित्रता की आधार भित्ति है। वह जितनी मजबूत होगी, प्रेम और मैत्री का अस्तित्व भी मजबूत बना रहेगा।

हमें मैत्री के महान पर्व के अवसर पर चिंतन करना है कि जिस तरह मेरा अस्तित्व है, वैसे ही संसार के सभी प्राणियों का अपना अस्तित्व है। जैसे मुझे सुख-दुख का अनुभव होता है, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी होता है। मैत्री के पवित्र दिवस और पर्व पर्युषण पर यही पवित्र संकल्प करना है कि 'मैं प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का भाव रखूंगा, उसके लिए मैं अपनी सहिष्णुता को बढ़ाऊंगा, चित्त को निर्मल बनाने की कोशिश करूंगा और आध्यात्मिक अनुष्ठान के द्वारा अपनी शक्तियों को जगाने का प्रयत्न करूंगा। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

महाराज हर्ष संन्यासी से जितना अधिक मिलते थे, उनके मन में उसका सम्मान उतना ही बढ़ता जाता था। उन्होंने इस छोटी उम्र के साधु की हर तरह से परीक्षा की और वह हर तरह से खरा सोना निकला। आदमियों में कई दोष होते हैं, संन्यासी में एक भी न था। महाराज एक दिन बड़ी नम्रता से बोले—'स्वामीजी! राजकुमारी कविता सीखना चाहती है। मैंने बहुत ढूंढ़ा, मगर ऐसा कोई न मिला, जिस पर मेरा मन विश्वास कर सके। और यह काम विश्वास के बिना नहीं हो सकता।'

कहानी

काव्य-कल्पना

❑ सुदर्शन ❑

महाराज श्रीहर्ष की गिनती संस्कृत के उन मशहूर कवियों में होती है, जिनका नाम अजर और अमर है।

भारतवर्ष में गंगा-यमुना और हिमालय के साथ श्रीहर्ष भी सदा अमर रहेंगे। उनकी काव्य-कल्पना देखकर लोग आज भी हैरान रह जाते हैं। उनका अधिक समय काव्य-रचना की भेंट होता था। उनको अपने राज्य की इतनी परवाह न थी, जितनी कविता की। वे प्रायः कहा करते थे—'मेरा असली राज्य वह है, जिस पर मेरे विचारों का शासन है। धरती का राज्य छिन सकता है, बदल सकता है, नाश हो सकता है। मगर कविता का राज्य वह राज्य है, जिसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। यहां तक कि उसे मौत की ठंडी अंगुलियां भी नहीं छू सकतीं।'

महाराज अपने खयाल में तन्मय रहते थे और काव्य और कला, जीवन और ज्योति, प्रेम और पवित्रता के कभी नाश न होने वाले संसार के स्वर्गीय सपने देखा करते थे।

एक दिन महाराज बाग में बैठे थे। संध्या का समय था। डूबते हुए सूरज की पीली किरणें गुलाब के खूबसूरत फूलों से विदा हो रही थीं और प्रकृति-माता के इन मनोहर बच्चों को अपनी उदासीनता दे रही थीं, जैसे हर सखी अपनी सखी के घर से चलते समय उसके बच्चों को कुछ-न-कुछ देना अपना कर्तव्य समझती है। उद्यान-माता अपनी सहेलियों के वियोग का खयाल कर करके दुखी हो रही थी और उसके स्नेहपूर्ण मुंह पर विषाद की काली लकीरें उभर आई थीं। महाराज हर्ष प्रकृति का यह भावोत्पादक दृश्य देखते थे और उसे लिखते जाते थे।

सहसा महाराज की कुंवारी कन्या चंद्रमुखी उषा उनके सामने आकर खड़ी हो गई। सायंकाल के अंधकार में प्रभात का सूर्य उदय हुआ। महाराज इस समय दूसरी दुनिया में थे। कोई अमीर, कोई वजीर, राज्य की कोई महान-से-महान घटना भी उनके इस काव्य-कानन में पांव नहीं रख सकती थी। यह उनकी आज्ञा थी। मगर प्रेम के लिए कोई भी द्वार बंद नहीं। प्रेम हर जगह पहुंच जाता है। महाराज ने क्रोध से सिर उठाया, मगर राजकुमारी को देखते ही उनके क्रोध ने मुस्कराहट का रूप धारण कर लिया।

उषा ने अपने कवि और महाराज पिता को पुत्री की प्यार-भरी आंखों से देखा और फिर पवित्रता की सादगी से मुस्कराकर कहा—'तो आखिर मैंने आपको आ ही पकड़ा। मैंने महल का एक-एक कोना ढूंढ़ा, संगीत-मंडल में गई, चित्र-भवन में देखा। परंतु आप...'

एकाएक उसने भोजपत्र देखा और रुक गई और उसने संकोच से सिर झुका लिया। उसको खयाल आया कि उससे भूल हो गई है। उसने विनय-भाव से महाराज की तरफ देखा और कहा—'पिताजी! मुझे मालूम न था...मुझे क्षमा करें।'

महाराज ने उसके इन शब्दों को न सुना, न उसे अपनी बात पूरी करने का अवसर दिया। वे उठकर उसके

निकट आए, अपना प्यार से कांपता हुआ हाथ उसके सिर पर फेरा और प्यार के इस बस में करने वाले अमल को जारी रखते हुए बोले—'बेटी उषा! जरा सूर्य की तरफ देख। वह अपनी किरणों को समेटकर काली चादर में मुंह छिपा रहा है। उसकी किरणें फूलों के सिर पर हाथ फेर रही हैं, जिस तरह मैं तेरे सिर पर हाथ फेर रहा हूं। मेरे दरबार के कवि भी मेरे भाव नहीं समझ सकते। न उनके पास वह आंख है, जो शब्दों की सुंदरता को देख सके, न उनके पास वे कान हैं, जो रंगों के संगीत को सुन सकें। मगर मुझे विश्वास है, मेरी बात तू जरूर समझेगी—तू मेरी पुत्री है, तेरा मन मेरे मन के सांचे में ढला है।'

महाराज ने कविता सुनाई। राजकुमारी ने कविता सुनी और उसकी आंखों की चमक और होंठों की मुस्कराहट ने महाराज को विश्वास दिला दिया कि बेटी ने बाप की बात को पूर्ण रूप से समझ लिया है।

इसके बाद बाप-बेटी, दोनों सांझ के अंधेरे में महल को रवाना हुए और उषा ने बाप के पीछे भागकर उनके साथ मिलने का प्रयत्न करते हुए बालपन की सादगी से कहा—'पिताजी! मैं भी कविता सीखूंगी। मगर मुझे सिखाएगा कौन?'

और महाराज, जिन्होंने इससे पहले अपनी प्यारी बेटी की छोटी-से-छोटी बात को भी अस्वीकार न किया था, दिल में सोचते थे—इसे कविता कौन सिखाएगा? यह जवान है और कुंवारी है और रूप की खान है। इधर कविता में पवित्रता और संयम की नदियां बहा देने वाले कवि भी कितने साधारण, विषय-वासना के कैसे उपासक होते हैं? यह सचाई महाराज हर्ष जैसे बुद्धिमान और पंडित कवि-सम्राट से छिपी न थी। महाराज गंभीर होकर सोचने लगे। बेटी ने बाप के सामने एक समस्या खड़ी कर दी थी।

वर्षा के दिन थे। आकाश पर घटाएं लहराती थीं, जैसे दुखी दिलों पर आशा लहराती है। आशा के ये बादल कभी बरसते हैं, कभी ऊपर-ही-ऊपर उड़ जाते हैं।

कुछ दिन बाद महाराज हर्ष के दरबार में एक सुंदर नौजवान दंडी संन्यासी आया और बोला—'राजन्! हम संन्यासी हैं और संन्यासी तीन दिन से अधिक कहीं नहीं ठहरते। मगर अब वर्षाऋतु शुरू हो गई है, अब हमारे लिए यात्रा करने की मनाही है। अब हम बादलों और बिजलियों के ये चार महीने कहीं ठहरना चाहते हैं। क्या तू हमारा प्रबंध कर सकता है?'

महाराज ने नवयुवक संन्यासी के चरण छूकर प्रणाम किया और कहा—'महाराज! मैं और मेरा सारा राज्य आपकी सेवा के लिए उपस्थित है। मानसरोवर के आजाद राजहंस को पिंजरे में प्रसन्न रखना आसान नहीं, मगर मैं अपनी राज-सत्ता की संपूर्ण शक्तियां खर्च कर दूंगा और आपको कष्ट न होने दूंगा।'

संन्यासी ने हाथ उठाकर महाराज को आशीर्वाद दिया और कहा—'भगवान तेरा कल्याण करेंगे।'

संन्यासी को राजमहल में जगह मिल गई और वह वहां वर्षाऋतु का चौमासा काटने लगा। महाराज हर्ष को संन्यासी के सद्गुणों का ज्ञान हुआ। वह केवल साधु ही न था, बड़ा भारी चित्रकार और बड़ा भारी कवि भी था। और इतना ही नहीं, उसे हर विद्या का पूरा-पूरा ज्ञान था। जिस विषय पर बोलता, महाराज हर्ष मुंह देखते रह जाते। इस छोटी उम्र में यह पांडित्य एक ऐसी बात थी, जो महाराज ने कभी न देखी थी। और फिर नवयुवक संन्यासी का प्रफुल्लित चेहरा और फले-फूले जंगल में मीठे जल से भरे हुए दो नीले तालाबों की तरह शांत आंखें! दुनिया ने ऐसी मोहिनी किसी आदमी के मुख पर कम देखी होगी।

महाराज हर्ष संन्यासी से जितना अधिक मिलते थे, उनके मन में उसका सम्मान उतना ही बढ़ता जाता था। उन्होंने इस छोटी उम्र के साधु की हर तरह से परीक्षा की और वह हर तरह से खरा सोना निकला। आदमियों में कई दोष होते हैं, संन्यासी में एक भी न था। महाराज एक दिन बड़ी नम्रता से बोले—'स्वामीजी! राजकुमारी कविता सीखना चाहती है। मैंने बहुत ढूंढ़ा, मगर ऐसा कोई न मिला, जिस पर मेरा मन विश्वास कर सके। और यह काम विश्वास के बिना नहीं हो सकता।'

संन्यासी ने आधी बात से पूरी बात समझ ली और बिना संकोच के जबाव दिया—'चिंता न करो। जब तक हम यहां हैं, हम पढ़ा दिया करेंगे।'

महाराज के मन की मुराद पूरी हो गई। राजकुमारी कविता सीखने लगी। संन्यासी कविता सिखाने लगा। वर्षा के दिन बीतने लगे।

चार महीनों के बाद महाराज ने संन्यासी से पूछा—'कहिए! राजकुमारी उषा ने क्या-कुछ सीखा?'

संन्यासी ने मन को मोहने वाली अपनी बड़ी-बड़ी और सतेज आंखों से महाराज की तरफ देखा और मुस्कराकर जवाब दिया—'कवि बाप की बेटी है, बहुत-कुछ

सीख चुकी। इतने थोड़े समय में कोई दूसरी कन्या कुछ भी न सीख सकती। मगर राजकुमारी की कविता देखकर तो हम भी हैरान रह जाते हैं।'

महाराज को आश्चर्य हुआ—'मगर केवल चार महीने में?'

संन्यासी ने जवाब दिया—'राजन्! कवि बनते नहीं, कवि पैदा होते हैं। आग की चिनगारियां राख तले छिपी रहती हैं, कविता की कला सीने में सोई रहती है। गुरु का काम केवल यह है कि राख हटाकर कविता की उन चिनगारियों को सचेत करदे। आग अपने-आप सुलगने लगेगी। इसके लिए यत्न करने की भी जरूरत नहीं। हवा के झोंके ही उसके लिए घी के छींटे बन जाते हैं। राजकुमारी में ये शक्तियां पहले ही मौजूद थीं। हमने उन्हें केवल जरा-सा कुरेद कर जगा दिया है और अब वह सुंदर भाषा और सुंदर भावों की विद्या में प्रवीण हो चुकी है। हमें उस पर गर्व है। वह हमारा नाम करेगी।'

महाराज ने उल्लास, अभिमान और आश्चर्य से अपनी बेटी की तरफ देखा। वह जमीन की तरफ देख रही थी—और लजा रही थी—और चुप थी।

महाराज ने कहा—'उषा!'

उषा ने सिर उठाकर बाप की तरफ देखा और फिर लजाकर अपना सिर झुका लिया।

महाराज—'अपनी कोई कविता हमें भी सुनाओ। सुनाओगी ना?'

राजकुमारी ने उसी तरह भूमि की तरफ देखते हुए सिर के इशारे से कहा—'नहीं।'

महाराज—'क्यों?'

राजकुमारी ने जवाब न दिया।

महाराज—'सुनाओ बेटी। कोई अच्छी-सी कविता सुनाओ। कोई ऐसी कविता, जिसे सुनकर हमारा सीना फूल उठे।'

उषा ने सिर की साड़ी माथे पर खींचते हुए धीरे-से कहा—'आपको पसंद न आएगी। आप कवियों के सम्राट हैं।'

अब संन्यासी चुप न रह सका, बोला—'उषादेवी! यह तुम्हारी नहीं, मेरी भी परीक्षा है। गुरु के पढ़ाने की लाज रख लेना!'

उषा ने अपनी कविताओं को उलट-पुलट कर देखा कि क्या सुनाए? पर निश्चय न कर सकी। वह बेबसी से बोली—'क्या सुनाऊं?'

संन्यासी—'कुछ सुना दो। मिसरी हर तरफ से मीठी होती है। हीरा हर तरफ से चमकता है।'

राजकुमारी ने साहस करके कहा—'कविता पर कुछ लिखा है, वही सुनाए देती हूं।'

उसने बोलना चाहा, पर जीभ न खुली। महाराज ने संन्यासी से कहा—'आप ही पढ़ दें। इसे शर्म आती है।'

संन्यासी ने पढ़ना शुरू किया—

> 'कविता का कवि से वही नाता है, जो नव-विवाहिता रमणी का अपने पति से है। पति स्त्री को छूना, पकड़ना, गले से लगाना चाहता है। मगर नववधू लजाती है, अपने-आप को बचाती है और एक तरफ भाग जाती है। कविता का भी यही है। वह कभी कवि के सामने आज्ञाकारी नौकर की तरह सिर झुकाकर खड़ी हो जाती है, कभी उसकी तरफ देखकर बे-अदब लड़के की तरह हंसती है, कभी लज्जा से मुंह छिपा लेती है और कभी, जब कवि उसके बहुत निकट पहुंच जाता है, तो चंचल हरिणी की तरह कुलांचें भरकर दूर चली जाती है। कभी जरा-सी बात में सिर झुका लेती है, कभी निर्लज्ज भाव से अपनी दोनों भुजाएं पति के गले में डाल देती है।'

राजकुमारी की यह कविता कैसी मनोहर थी! कैसी भावमई! और इसके साथ ही कितनी सादी! इसमें पेचीदगी न थी, न कोई ऐसा गोरखधंधा था, जिसे समझने के लिए घंटों हैरान और परेशान होना पड़े। खयाल नया भी था, ऊंचा भी था और अस्वाभाविक न था। यही कविता किसी दूसरे की होती तो महाराज उसे निहाल कर देते। मगर बेटी की लिखी हुई प्रेम और यौवन की यह अद्भुत कहानी सुनकर उनकी आंखों में खून उतर आया। सोचने लगे—वह कुंवारी कन्या स्त्री-पुरुष के प्यार-मुहब्बत की बातें क्या जाने? इसने यह दृश्य कब देखा?

उनके दिल में एक संदेह पैदा हुआ। उन्होंने नवयुवक संन्यासी को चुभती हुई दृष्टि से देखा। परंतु संन्यासी मुस्करा रहा था। उसके मुंह पर जरा भी भय, उसकी आंखों में जरा भी संकोच न था। महाराज असमंजस में पड़ गए। यह चेहरा पाप का चेहरा न था। पाप टेढ़ी आंखों के सामने सिर नहीं उठा सकता, न उसमें मुस्कराने का साहस होता

है। मगर महाराज फिर भी सोचते थे, उषा ने प्यार की कविता कैसे लिखी?

महाराज कुछ देर चुपचाप बैठे सोचते रहे, फिर उठकर धीरे-धीरे चले गए। संन्यासी महाराज के मन की बात भांप गया।

दूसरे दिन महाराज ने संन्यासी को विदा करने के लिए दरबार में बुलाया, एक हजार एक मुहरों का थाल उन्हें भेंट किया, और कहा—'यह आपकी दक्षिणा है।'

संन्यासी ने मुहरों को अवहेलना की दृष्टि से देखा और कहा—'राजन्! तू कवियों में राजा और राजाओं में कवि है। यह दक्षिणा तेरे योग्य नहीं। तू हमें अपने योग्य दक्षिणा दे।'

महाराज ने आश्चर्य से संन्यासी की तरफ देखा। मगर संन्यासी मुस्करा रहा था—'हम मुंह-मांगी दक्षिणा चाहते हैं।'

महाराज ने अधीरता से सिर झुकाकर कहा—'संन्यासी आज्ञा दे, राजा पालन करेगा।'

सारे दरबारी हैरान थे कि देखें संन्यासी क्या मांगता है?

संन्यासी बोला—'राजन्! कोई अपनी बढ़िया-सी कविता सुना दे। हमारी यही दक्षिणा होगी। हमारे मन की खुशी यही मांगती है।'

दरबारियों की आंखें खुल गईं। वे सोचते थे, संन्यासी ने सुनहरा अवसर खो दिया।

महाराज ने पूछा—'किस विषय पर?'

संन्यासी—'किसी गरीब के घर का दृश्य दिखा दे।'

महाराज ने भोज-पत्र लिया और एक तरफ बैठ गए। आध घंटे के बाद महाराज बोले—'कविता तैयार है।'

संन्यासी—'पढ़ो।'

महाराज ने कविता पढ़नी शुरू की—

'वर्षाऋतु है! आसमान पर काले बादल उमड़े हुए हैं। मगर इससे भी काले बादल गरीब हतभागिनी बुढ़िया के मन में छाए हुए हैं। आसमान के बादलों में कभी-कभी बिजली भी चमक जाती है। मगर बुढ़िया के मन में सदा अंधेरा है। वहां बिजली कभी नहीं चमकती।

छत से पानी टपक रहा है और इस समाप्त न होने वाले टपके से मकान के कच्चे फर्श में जगह-जगह पर गड्ढे बन गए हैं। पानी की बूंदें उन गड्ढों में गिरती हैं, तो गड्ढों का पानी चारों तरफ उड़ता है और आसपास के फर्श को भी गीला कर देता है। मगर इनसे भी गहरे गड्ढे बुढ़िया के दिल में बने हुए हैं।

सायंकाल के अंधेरे में लोग अपने-अपने घरों के दीपक जला रहे हैं। मगर बुढ़िया के दीपक का तेल, कई दिन हुए समाप्त हो चुका है और बत्ती कभी की जल चुकी है। उसके चूल्हे में कई दिन से आग नहीं सुलगी। वहां मकड़ी ने जाला बुन दिया है। उसके घर के चूहे भाग गए हैं, और चमगादड़ इधर-उधर उड़ते फिरते हैं।'

यह कविता नहीं थी, किसी हत-भागे के घर का चित्र था; मगर कितना सजीव! कैसा हृदय-वेधक! दरबारियों ने 'वाह-वा' की ध्वनि से दरबार सिर पर उठा लिया। मगर संन्यासी चुप था।

महाराज ने उसकी तरफ देखा। संन्यासी ने कहा—'राजन्! तेरी कविता सचमुच बहुत सुंदर और भावमई है। मगर...'

दरबारी, वजीर, राजा—सब संन्यासी की तरफ देखने लगे। संन्यासी ने वाक्य पूरा करते हुए कहा—'मगर मालूम होता है, तू किसी राजा का पुत्र नहीं, किसी गरीब कंगाल का बेटा है।'

दरबारी सन्नाटे में आ गए। महाराज की आंखों से आग की चिनगारियां निकलने लगीं। उन्होंने तलवार की म्यान पर हाथ रखकर कहा—'संन्यासी! मैं यह अपमान सहन नहीं कर सकता। तू मुझे गालियां दे रहा है। मेरे हाथ में तलवार है और मैं यहां का राजा हूं।'

संन्यासी—'तूने यह कविता कैसे तैयार की? तू राजा है। तूने महलों में जन्म लिया है। तू चांदी-सोने में पला है। तूने गरीबी नहीं देखी—तू किसी गरीब का हाल क्या जाने?'

महाराज ने उसी तरह क्रोध-भरे स्वर में कहा—'काव्य-कल्पना की आंख से कवि वह देख सकता है, जो दूसरे खुली आंखों से भी नहीं देख सकते। जहां पहुंचे कवि, वहां न पहुंचे रवि।'

अब संन्यासी ने मुस्कराकर उत्तर दिया—'कविराज! तूने ठीक कहा। लेकिन अगर तू राजा का बेटा होकर भी काव्य-कल्पना की आंख की सहायता से गरीब के घर की दशा देख सकता है, तो तेरी कुंवारी कन्या स्त्री-पुरुष की प्रेमलीला का हाल क्यों नहीं जान सकती? तूने मुझे संदेह की दृष्टि से देखा था। तेरी आंखें लाल हो गई थीं। तूने समझा था, संन्यासी की इंद्रियां उसके वश में नहीं। मगर तेरा संदेह निर्मूल था। मैं संन्यासी हूं। दुनिया की हर लड़की मेरी पुत्री है। मैं संसार की हर लड़की का पिता हूं।'

यह कहते-कहते संन्यासी ने अपना कमंडल उठाया और दरबार से बाहर निकल गया।

महाराज की आंखें खुल गईं। मगर उनके मुंह से एक भी शब्द न निकला।

राजकुमारी सिर झुकाए हुए मुस्करा रही थी।

दरबार के लोग इस कौतुक को मनोरंजन, श्रद्धा और आश्चर्य की आंखों से देख रहे थे।

❖

संवर : एक मीमांसा पृष्ठ 20 का शेष

रसनेंद्रिय निग्रह संवर : यह रसनेंद्रिय आश्रव का प्रतिपक्षी है। सुस्वाद-कुस्वाद में राग-द्वेष करना रसनेंद्रिय आश्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा रसनेंद्रिय को वश में करना और मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्वादों में राग-द्वेष न करना रसनेंद्रिय निग्रह संवर है।

स्पर्शनेंद्रिय निग्रह संवर : यह स्पर्शनेंद्रिय आश्रव का प्रतिपक्षी है। भले-बुरे स्पर्शों में राग-द्वेष करना स्पर्शनेंद्रिय आश्रव है। प्रत्याख्यान-पूर्वक स्पर्शनेंद्रिय को वश में करना और सुखावह-दुखावह स्पर्शों में राग-द्वेष न करना स्पर्शनेंद्रिय निग्रह संवर है।

मनोनिग्रह संवर : यह मन-योग आश्रव का प्रतिपक्षी है। शुभ-अशुभ मनोयोगों का संपूर्ण निरोध मनोनिग्रह संवर है।

वचन निग्रह संवर : यह वचन योग आश्रव का प्रतिपक्षी है। शुभ-अशुभ वचन योगों का संपूर्ण निरोध वचन निग्रह संवर है।

काय निग्रह संवर : यह काय योग आश्रव का प्रतिपक्षी है। शुभ-अशुभ काय योगों का संपूर्ण निरोध काय निग्रह संवर है।

भंडोपकरण संवर : यह भंडोपकरण आश्रव का प्रतिपक्षी है। त्यागपूर्वक भंडोपकरणों का सेवन न करना भंडोपकरण संवर है। मुनि के लिए उनमें ममत्व न करना और उनसे अयतना (हिंसा) न करना भंडोपकरण संवर है।

सूची कुशाग्र संवर : यह सूची कुशाग्र आश्रव का प्रतिपक्षी है। त्यागपूर्वक सूई-तृणाग्र आदि से अयतना न करना सूची कुशाग्र संवर है। मुनि के लिए उनमें ममत्व न करना और उनसे अयतना न करना सूची कुशाग्र संवर है।

संवर के पांच प्रकारों का ही विस्तृत रूप संवर के बीस भेद हैं। पांच संवर के अंतर्गत जो व्रत संवर हैं—उन्हीं का यह सारा विस्तार है। जैसा कि यह पहले बताया जा चुका है कि सम्यक्त्व और व्रत संवर त्यागपूर्वक किए जा सकते हैं, किंतु शेष तीन संवर—अप्रमाद, अकषाय और अयोग संवर प्रत्याख्यान से नहीं होते हैं, वे कर्मों के दूर होने से सहज ही घटित होते हैं। कर्मों के क्षय होने से ही अप्रमाद आदि संवर निष्पन्न होते हैं।

यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि छठे गुणस्थान में अशुभ योग के त्याग से ही व्रत संवर निष्पन्न होता है, फिर वहां अशुभ योग अर्थात् सावद्य प्रवृत्ति क्यों होती है? इस प्रश्न के समाधान में यही कहा जा सकता है कि साधु सर्वव्रती होने पर भी उसके मोह कर्म उदय में रहता है, जिससे कदाचित् सावद्य प्रवृत्ति होने पर पापाश्रव हो जाता है। शुभ ध्यान और शुभ लेश्या में प्रवर्तन करने पर मुनि के मोह कर्म का उदय शिथिल होने लगता है, जिससे मोहोदय से होने वाले सावद्य-व्यापार न्यून होते हैं और पाप कर्म के बंध में भी कमी आ जाती है।

संवर तत्त्व की निष्पन्नता पर विचार किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि वह चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम और क्षयोपशम निष्पन्न है। पांच चारित्र और छह निर्ग्रंथ संवरात्मक हैं। ये सभी चारित्र और निर्ग्रंथ छठे से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। पांचवें गुणस्थान में क्षायोपशमिक़ देश चारित्र, छठे से दसवें गुणस्थान तक क्षायोपशमिक सर्व चारित्र, ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक चारित्र और अंतिम तीन गुणस्थानों में सर्व-प्रधान क्षायिक चारित्र पाए जाते हैं। यहां यह भी जान लेना चाहिए कि प्रथम चार गुणस्थानों में चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम रहता है, जिससे उनमें भी शील, क्षमा, दया आदि आध्यात्मिक गुण पाए जाते हैं, किंतु उनमें संवर तत्त्व की अर्हता नहीं होती है। यों मानना चाहिए कि क्षयोपशम के प्राबल्य से ही संवर तत्त्व की प्राप्ति होती है। ❖

संजीव मिश्र की कविताएं

मंदिर

देवता की
मूर्ति के सम्मुख
खड़ा कोई
अकेला रह गया है।

छूट औचक गए हैं
संबंध सारे
संगमरमर के किसी
बुत से फिसलकर
आवरण
ज्यों गिर पड़ा हो।

सामने
बरगद पुराना
स्वस्ति साधे
चुप खड़ा है
ध्यान में
डूबा हुआ-सा।

पत्तियों के बीच
चिड़ियां सुन रही
घुलते हवा में
घंटियों के स्वर
कि जैसे याद
रह-रह कर किसी की
आ रही हो।

अंत

सीमित हैं हम
दिक्काल में बंधे हैं
दिक्काल
अपने में
अनंत है।
जो अनंत हैं
वे ही
हमारे अंत हैं।

सारथि

कभी जाना ही नहीं
कि क्या इशारा है
मेरे सारथि का।
जाता रहा रथ
घोर युद्ध के बीच
अज्ञान से बंधा
मैं बिंधता रहा
क्लांत व्याकुल
हारता हुआ
महायुद्ध में
जिसका मैं नायक था।
सारथि!
तुम सब जानते थे
लेकिन मैं ही अभागा
प्रश्न नहीं कर पाया।

देहरी पर

भीतर पानी भरूं
कि बाहर धूप बटोरूं,
यही सोचते बीत गया
खाली दिन
देहरी पर बैठे।

भीतर पानी, बूंद-बूंद में
तृप्ति बसी थी,
बाहर किरणें जिनका
कण-कण
निजको करके दीप्त
अमर करता था मन को।

प्यास बुझाना है या मन को
अमर बनाना
यह तय करते
बीत गया खाली दिन
देहरी पर बैठे।

देखा सूरज को

देखा
सूरज को उगते
तुम्हारे चेहरे पर
सृष्टि को होते
प्रतिपल
और अधिक आलोकित

स्वस्तिभाव के
साम निबद्ध
किसी पावन श्लोक-सा
उमड़ा
गूंज उठा मन।

मेरे कमरे के
बाहर ही रही थी जो
आस्था
हर किरण के साथ
निर्बाध
भीतर उतरती चली आई।

मैं
सम्मोहित, मुग्ध, समर्पित
खुलता रहा चुपचाप
अपने भीतर
होता रहा
निश्शंक।

देखता हुआ
सूरज को उगते
तुम्हारे चेहरे पर। ❖❖

शीलन

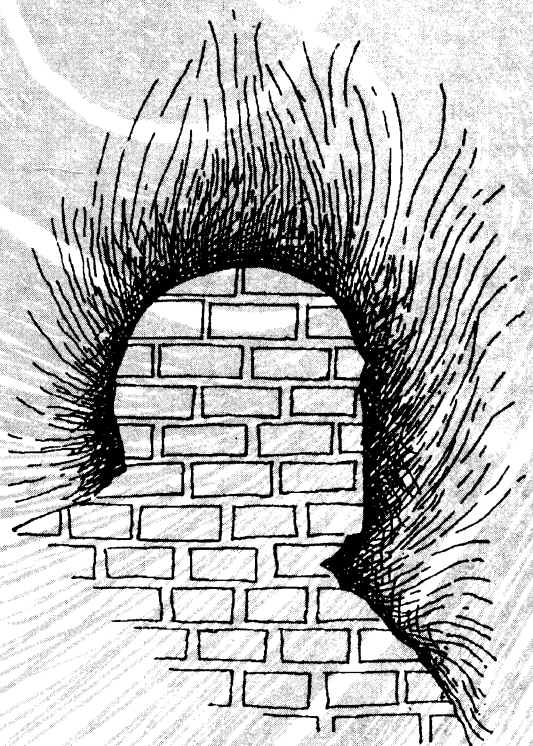

वह विवेक हमें कहां से प्राप्त हो जिसके आधार पर हम अपनी समष्टि से उत्तम चयन द्वारा अपनी स्पष्ट इकाई को अक्षुण्ण रखते हुए जीवन की नवरचना की ओर प्रयाण कर सकें। बाहर से आने वाले विचारों का सक्रिय अध्ययन करने के लिए हमारे पास कौन-सी दृष्टि होगी? वह दृष्टि वस्तुतः हमें अपने भीतर से ही प्राप्त हो सकती है। हमारी विशिष्टता इसमें नहीं है और न हमारा कोई योगदान ही इसमें है कि विश्व की ज्योति और ज्वाला किस प्रकार हम पर टूटती है; किंतु इसमें है कि किस प्रकार हम चयनपूर्वक उन्हें आत्मसात करते हैं और परिपूर्ण संकल्पित आचरण तथा कार्य के द्वारा उनका अनुशासन करते हैं।

—नन्ददुलारे वाजपेयी

हम यह विचार करें कि अहिंसा के जरिए समान वितरण कैसे किया जा सकता है? इसके लिए पहली सीढ़ी यह है कि जिसने इस आदर्श को अपने जीवन का अंग बना लिया है, वह अपने निजी जीवन में आवश्यक परिवर्तन कर ले। भारत की दरिद्रता को ध्यान में रखते हुए वह अपनी जरूरतें कम-से-कम कर लेगा। उसकी कमाई बेईमानी से मुक्त होगी। वह सट्टे की इच्छा छोड़ देगा। उसका निवास-स्थान नई जीवन-पद्धति के अनुरूप होगा। जीवन के हर क्षेत्र में वह संयम से काम लेगा। जब वह स्वयं अपने जीवन में यथासंभव सब-कुछ कर लेगा, तभी उसकी ऐसी स्थिति होगी कि वह अपने साथियों और पड़ोसियों में इस आदर्श का प्रचार कर सके।

सम-वितरण; शरीर-श्रम और अहिंसा

❑ *महात्मा गांधी* ❑

समान वितरण का सच्चा अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी सारी कुदरती जरूरतें पूरी करने का साधन मिल जाए, उससे ज्यादा नहीं। उदाहरणार्थ, यदि किसी आदमी का हाजमा कमजोर है और उसे रोटी के लिए पाव-भर आटे की ही जरूरत है और दूसरे को आधा सेर की जरूरत है, तो दोनों को अपनी-अपनी आवश्यकताएं पूरी करने का मौका मिलना चाहिए। इस आदर्श की स्थापना के लिए सारी समाज-व्यवस्था की फिर से रचना करनी पड़ेगी। अहिंसा के आधार पर बने हुए समाज का और कोई आदर्श नहीं हो सकता। शायद हम इस ध्येय को प्राप्त न भी कर सकें, परंतु हमें उसे ध्यान में रखना चाहिए और उसके निकट पहुंचने के लिए सतत कार्य करते रहना चाहिए। जिस हद तक हम अपने ध्येय की दिशा में प्रगति करेंगे, उसी हद तक हमें सुख और संतोष प्राप्त होगा और उतनी ही हद तक हम अहिंसक समाज की स्थापना करने में मदद पहुंचाएंगे।

स्वाधीनता के पांच दशक बीत जाने के बाद भी समाज में व्याप्त विषमता के अजगर का आकार लगातार बढ़ता रहा है। इसके कारणों को हम सभी भलीभांति जानते हैं। प्रश्न है कि इसका समाधान क्या हो? राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने अहिंसा सूत्र को आधार मानकर विषमता के विषदंत को बेअसर करने के अनेक उपाय सुझाए हैं।

स्वाधीनता दिवस के अवसर पर गांधी के सुझाए सूत्रों में से कुछेक जैन भारती के पाठकों के लिए—

व्यक्ति के लिए, दूसरों के ऐसा करने की प्रतीक्षा किए बिना, इस प्रकार का जीवन अपना लेना पूरी तरह संभव है। और यदि आचरण के किसी खास नियम का पालन एक व्यक्ति कर सकता है, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्तियों का समूह भी वैसा कर सकता है। मेरे लिए इस हकीकत पर जोर देना जरूरी है कि कोई सही रास्ता अख्तियार करने के लिए किसी को दूसरों की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। लोगों को जब ऐसा लगता है कि उद्देश्य की संपूर्णतः पूर्ति नहीं हो सकती, तो वे आमतौर पर उस दिशा में प्रारंभ करने में संकोच करते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति से सचमुच प्रगति में बाधा पड़ती है।

अब हम यह विचार करें कि अहिंसा के जरिए समान वितरण कैसे किया जा सकता है? इसके लिए पहली सीढ़ी यह है कि जिसने इस आदर्श को अपने जीवन का अंग बना लिया है, वह अपने निजी जीवन में आवश्यक परिवर्तन कर ले। भारत की दरिद्रता को ध्यान में रखते हुए वह अपनी जरूरतें कम-से-कम कर लेगा। उसकी कमाई बेईमानी से मुक्त होगी। वह सट्टे की इच्छा छोड़ देगा। उसका निवास-स्थान नई जीवन-पद्धति के अनुरूप होगा। जीवन के हर क्षेत्र में वह संयम से काम लेगा। जब वह स्वयं अपने जीवन में

यथासंभव सब-कुछ कर लेगा, तभी उसकी ऐसी स्थिति होगी कि वह अपने साथियों और पड़ोसियों में इस आदर्श का प्रचार कर सके।

वास्तव में समान वितरण के इस सिद्धांत की जड़ में धनवानों के अनावश्यक धन की संरक्षकता या 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धांत होना चाहिए, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार वे अपने पड़ोसियों से एक रुपया भी अधिक नहीं रख सकते। यह कैसे किया जाए? अहिंसा द्वारा? या धनवानों से उनकी संपत्ति छीनकर? ऐसा करने के लिए हमें स्वभावतः हिंसा का आसरा लेना पड़ेगा। इस हिंसक कार्रवाई से समाज का लाभ नहीं हो सकता। समाज उलटा घाटे में रहेगा, क्योंकि इससे समाज एक ऐसे आदमी के गुणों से वंचित रहेगा जो दौलत जमा करना जानता है। इसलिए अहिंसक मार्ग प्रत्यक्ष रूप में श्रेष्ठ है। धनवान के पास उसका धन रहेगा, परंतु उसका उतना ही भाग वह अपने काम में लेगा जितना वह अपनी निजी आवश्यकताओं के लिए उचित रूप में जरूरी समझता है और बाकी को समाज के उपयोग के लिए धरोहर समझेगा। इस तर्क में यह मान लिया गया है कि संरक्षक प्रामाणिक होगा।

ज्यों ही मनुष्य अपने को समाज का सेवक समझने लगता है, उसकी खातिर कमाने लगता है और उसके फायदे के लिए खर्च करने लगता है, त्यों ही उसकी कमाई में शुद्धता आ जाती है और उसके साहस में अहिंसा का प्रवेश हो जाता है। इसके अतिरिक्त, यदि मनुष्यों के मन जीवन की इस प्रणाली की ओर मुड़ जाएं, तो समाज में एक शांतिपूर्ण क्रांति हो जाएगी और वह भी बिना किसी कटुता के।

यह पूछा जा सकता है कि क्या इतिहास में किसी भी समय मानव-स्वभाव में ऐसा परिवर्तन हुआ पाया जाता है? निस्संदेह ऐसे परिवर्तन व्यक्तियों में तो हुए ही हैं। शायद सारे समाज में ऐसे परिवर्तन होने का उदाहरण न दिया जा सके। परंतु इसका अर्थ इतना ही है कि अब तक बड़े पैमाने पर अहिंसा का कभी प्रयोग नहीं हुआ है। किसी-न-किसी प्रकार हम लोग इस गलत विश्वास में फंस गए हैं कि अहिंसा मुख्यतः व्यक्तियों का हथियार है और इसलिए उसका प्रयोग व्यक्ति तक ही सीमित रहना चाहिए। असल में यह बात नहीं है। अहिंसा निश्चित रूप में समाज का गुण है। इस सचाई का लोगों को पक्का विश्वास कराने के लिए मेरा प्रयत्न और प्रयोग दोनों चल रहे हैं। आश्चर्यों के इस युग में कोई यह नहीं कहेगा कि नई होने के कारण ही कोई वस्तु या कल्पना निकम्मी है। यह कहना भी कि कठिन होने के कारण वह असंभव है—इस युग की भावना के अनुसार नहीं है। जिन चीजों का सपने में भी खयाल नहीं था, वे रोज देखी जा रही हैं, असंभव सदा संभव बनता जा रहा है। हिंसा के क्षेत्र में इन दिनों होने वाले विस्मयकारी आविष्कार हमें सतत आश्चर्यचकित कर रहे हैं। परंतु मैं मानता हूं कि अहिंसा के क्षेत्र में इनसे कहीं ज्यादा अकल्पित और असंभव दिखाई देने वाले आविष्कार होंगे। धर्म का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। समाज से धर्म-मात्र की जड़ उखाड़ने का प्रयत्न सर्वथा असंभव है। और यदि ऐसा प्रयत्न सफल भी हो जाए, तो इसका अर्थ समाज का विनाश होगा। युग-युग में अंधविश्वास, कुरीतियां और दूसरी त्रुटियां धर्म में घुसकर कुछ समय के लिए उसे बिगाड़ देती हैं। वे आती हैं और चली जाती हैं। परंतु धर्म स्वयं बना रहता है, क्योंकि विस्तृत अर्थ में संसार का अस्तित्व धर्म पर ही कायम है। धर्म की अंतिम व्याख्या ईश्वरीय कानून का पालन कही जा सकती है। ईश्वर और उसका कानून पर्यायवाची शब्द हैं। ईश्वर अर्थात् अपरिवर्तनशील, जीता-जागता कानून। वास्तव में आज तक किसी ने उसे नहीं पाया है। परंतु अवतारों और पैगंबरों ने अपनी तपस्या के बल से मनुष्य-जाति को उस शाश्वत धर्म की हलकी-सी झांकी दिखाई है।

परंतु यदि अत्यंत प्रयत्न करने पर भी धनवान लोग सच्चे अर्थ में गरीबों के संरक्षक न बनें और गरीब दिन-दिन अधिक कुचले जाएं और भूख से मरें, तब क्या किया जाए?

इस पहेली का हल ढूंढ़ने के प्रयत्न में मुझे अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा का सही और अचूक साधन सूझा है; अमीर लोग समाज के गरीबों के सहयोग के बिना धन संग्रह नहीं कर सकते। मनुष्य का प्रारंभ से ही हिंसा से परिचय रहा है, क्योंकि उसे यह बल अपने पशु-स्वभाव से उत्तराधिकार में मिला है। अहिंसा की शक्ति का ज्ञान तो उसकी आत्मा को तभी हुआ, जब वह चौपाए की स्थिति से ऊंचा उठकर दोपाए (मनुष्य) की हालत में पहुंचा। इस ज्ञान का विकास उसके भीतर धीरे-धीरे, किंतु निश्चित रूप में हुआ है। यदि यह ज्ञान गरीबों के भीतर प्रवेश करके फैल जाए, तो वे बलवान हो जाएंगे और अहिंसा के द्वारा अपने को कुचल डालने वाली असमानताओं से मुक्त करना सीख लेंगे, जिनके कारण वे भुखमरी के किनारे पहुंच गए हैं।

❑

शरीर-श्रम : एक यज्ञ

जीने के लिए मनुष्य को काम करना ही चाहिए, यह कानून पहले-पहल मेरे गले तब उतरा जब मैंने 'शरीर-श्रम'

पर टॉल्स्टॉय का लेख पढ़ा। परंतु इसके भी पहले रस्किन की पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' पढ़ने के बाद मैं इसका आदर करने लगा था। मनुष्य को अपने ही हाथों से मेहनत करके रोटी कमानी चाहिए, इस दिव्य कानून पर सबसे पहले टी. एम. बोंदरेव्ह नामक रूसी लेखक ने जोर दिया था। टॉल्स्टॉय ने उसका विज्ञापन किया और उसे अधिक प्रसिद्धि दी। मेरे खयाल से यही सिद्धांत गीता के तीसरे अध्याय में प्रतिपादित किया गया है। उसमें कहा गया है कि जो यज्ञ किए बिना खाता है, वह चोरी का अन्न खाता है। यहां यज्ञ का अर्थ केवल शरीर-श्रम ही हो सकता है।

बुद्धि से भी हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं। जो आदमी शरीर-श्रम नहीं करता, उसे खाने का क्या हक है? बाइबिल कहती है, 'तू अपने पसीने की रोटी खा।' कोई लखपति यदि दिनभर बिस्तर में पड़ा रहे और खाना भी उसे दूसरे ही खिलाएं, तो वह बहुत दिन तक नहीं खा सकता और अपने जीवन से जल्दी ही ऊब जाएगा। इसलिए वह व्यायाम करके भूख पैदा करता है और अपने हाथों से भोजन करता है। इस प्रकार यदि गरीब-अमीर सभी को किसी-न-किसी रूप में व्यायाम करना ही पड़ता है, तो उसका रूप उत्पादक अर्थात् रोटी के लिए श्रम क्यों न होना चाहिए? काश्तकार से कोई यह नहीं कहता कि तू प्राणायाम या व्यायाम कर। और 90 फीसदी मनुष्य खेती करके निर्वाह करते हैं। यदि बाकी के 10 फीसदी लोग कम-से-कम अपनी रोटी कमाने जितना श्रम करके इस भारी बहुमत के उदाहरण का अनुगमन करने लगें, तो संसार कितना अधिक सुखी, स्वस्थ और शांत हो जाए! और यदि ऐसे लोग इसमें हाथ बटाएं तो खेती-संबंधी कितनी मुसीबतें आसानी से दूर हो जाएं? इसके अलावा, जब निरपवाद रूप में प्रत्येक मनुष्य रोटी के लिए श्रम करने का कर्तव्य स्वीकार करले, तो ऊंच-नीच का बुरा भेद भी मिट जाए। यह सब वर्णों के लिए समान रूप से लागू होता है। पूंजी और श्रम में आज संसारव्यापी संघर्ष है और गरीब अमीरों से ईर्ष्या करते हैं। यदि सब अपनी रोटी के लिए श्रम करने लगें, तो छोटे-बड़े का अंतर मिट जाएगा। धनवान रहेंगे तो सही, परंतु वे अपने को अपनी संपत्ति के केवल संरक्षक मानेंगे और मुख्यतः उसका उपयोग सार्वजनिक हित में करेंगे।

जो अहिंसा का पालन करना चाहता हो, सत्य की पूजा करना चाहता हो और ब्रह्मचर्य-पालन को स्वाभाविक बना लेना चाहता हो, उसके लिये शरीर-श्रम सचमुच वरदान रूप है। यह श्रम केवल खेती से ही सच्चा संबंध रख सकता है। परंतु कम-से-कम इस समय तो सबकी हालत खेती को अपनाने की नहीं है। इसलिए मनुष्य खेती को सदा आदर्श समझते हुए जमीन जोतने के बजाए कताई, बुनाई, बढ़ईगीरी, या लुहारी को अपना सकता है। हरएक को अपना भंगी आप होना चाहिए। मलत्याग उतना ही आवश्यक है जितना भोजन; और उत्तम बात यह है कि सभी अपने-अपने मल-मूत्र को स्वयं हटाएं। यदि यह असंभव है तो प्रत्येक परिवार को अपने भंगी का काम खुद करना चाहिए। मुझे वर्षों से लग रहा है कि जहां समाज में पाखाना-सफाई का काम किसी एक वर्ग का बना दिया गया है, वहां कोई मौलिक दोष अवश्य होना चाहिए। हमारे पास इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है कि किसने पहले-पहल इस अत्यावश्यक आरोग्य-कार्य को सबसे नीचा दर्जा दिया। वह कोई भी हो, उसने हमारी भलाई तो हरगिज नहीं की। हमारे दिलों पर बचपन से ही यह खयाल जमा दिया जाना चाहिए कि हम सब मेहतर हैं; और ऐसा करने का सबसे सरल उपाय यह है कि जिन्होंने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया है, वे मेहतर के रूप में शरीर-श्रम आरंभ कर दें। इस तरह समझ-बूझकर भंगी काम को अपनाया जाएगा, तो इससे हममें मानवता की सच्ची कद्र पैदा होगी।

शरीर-श्रम का कर्तव्य

क्या मनुष्य बौद्धिक श्रम द्वारा अपनी आजीविका नहीं कमा सकते? नहीं। शरीर की आवश्यकताएं शरीर से ही पूरी होनी चाहिएं।

केवल मानसिक अर्थात् बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए होता है और वह आत्म-संतोष के लिए होता है। उसका कोई पारिश्रमिक नहीं मांगना चाहिए। आदर्श स्थिति में डॉक्टर, वकील और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाज के लाभ के लिए काम करेंगे, न कि अपने लिए। शारीरिक श्रम का कानून मानने से समाज की रचना में मूक क्रांति होगी। मनुष्य की विजय जीवन-संग्राम के स्थान पर परस्पर सेवा के संग्राम की स्थापना करने में होगी। पशुधर्म की जगह मानवधर्म ले लेगा।

ग्रामों की ओर जाने का अर्थ यह है कि हम शरीर-श्रम करने की और उसके साथ जुड़ी हुई तमाम बातें निश्चित रूप में और स्वेच्छा-पूर्वक स्वीकार कर लें। परंतु समालोचक कहते हैं, 'भारत की लाखों संतानें इस वक्त देहात में रहती हैं, फिर भी वे आधे पेट रहकर जीवन व्यतीत करती हैं।' यह भी बिल्कुल सच है। सौभाग्य से हमें मालूम है कि उनका शरीर-श्रम के नियम का पालन

शेष पृष्ठ 51 पर

आतंकवाद अंतरराष्ट्रीय समस्या के रूप में छाया हुआ है। सभी राष्ट्रों ने अपनी कूटनीति के आधार पर इसे समूल नष्ट करने की बात की है। सभी राष्ट्र शांति चाहते हैं। भारतीय संस्कृति तो अहिंसक तत्त्वों को ही स्वीकार करती है। समाज-संरचना का आधार अहिंसा हो, यह भारत का हमेशा प्रयास रहा है। भारतीय शास्त्रों एवं शास्त्रकारों ने अहिंसा की व्याख्याएं की हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने समाज-व्यवस्था के अहिंसात्मक सूत्रों को अपने चिंतन में स्पष्ट किया है। उनके चिंतन में राष्ट्रधर्म अहिंसा से अछूता नहीं रह सकता। राष्ट्रधर्म प्रत्येक देश-वासी का प्रमुख धर्म है। अहिंसा के स्वरूप को लेकर उन्होंने जो बात कही वह समय-सापेक्ष ही नहीं, बल्कि सार्वजनीन एवं सार्वलौकिक भी है।

अहिंसा : समाज-संरचना का आधार

❑ डॉ. जिनेंद्र जैन ❑

विश्व के राजनीतिक पटल पर आज आतंकवाद की समस्या गंभीरतम रूप में विद्यमान है। इस समस्या को किसने, क्यों, कब, कहां और कैसे बढ़ाया—ये कुछ प्रश्न स्वतः मन में उठते हैं। लेकिन इन सभी प्रश्नों को एक बार यहीं छोड़ दें, और प्रमुखतः यह प्रश्न सम्मुख रखें कि इसे समाप्त कैसे करना है या कैसे इसको समूल नष्ट किया जाए? विश्व के अनेक राजनेताओं, संगठनों एवं धर्म-गुरुओं के सामने यह एक चुनौती है। हमारे धर्मशास्त्रों एवं धर्म-गुरुओं ने जिस मार्ग को प्रशस्त किया और शांति के जो सूत्र दिए, समन्वयात्मक चिंतन के उन सूत्रों को लेकर यदि चला जाए तो आतंकवाद के सम्मुख एक सकारात्मक चुनौती उपस्थित की जा सकती है। यह चुनौती आतंकवाद को पूरी तरह समाप्त न भी कर पाए, पर इससे यह समस्या सीमित अवश्य हो जाएगी।

विश्व का जिस तरह भूमंडलीकरण हो रहा है, उससे हानि एवं लाभ—दोनों के बराबर अवसर हैं। विज्ञान और तकनीक की प्रगति तथा भूमंडलीकरण के कारण भी आतंकवाद जैसी विकृत और घिनौनी प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिल रहा है। मानवीय विकास होना, उसका दूसरा धवल पक्ष है। रूस के राष्ट्रपति पुतिन का यह कथन आज सच साबित हो रहा है कि आतंकवाद के भूमंडलीकरण के कारण ही हम आपसी शंकाओं एवं पूर्व धारणाओं से ग्रसित होकर वैसा कर पाने में समर्थ नहीं हो पा रहे, जैसा स्वतंत्र चिंतन के आधार पर किया जा सकता था?

आतंकवाद अंतरराष्ट्रीय समस्या के रूप में छाया हुआ है। सभी राष्ट्रों ने अपनी कूटनीति के आधार पर इसे समूल नष्ट करने की बात की है। सभी राष्ट्र शांति चाहते हैं। भारतीय संस्कृति तो अहिंसक तत्त्वों को ही स्वीकार करती है। समाज-संरचना का आधार अहिंसा हो, यह भारत का हमेशा प्रयास रहा है। भारतीय शास्त्रों एवं शास्त्रकारों ने अहिंसा की व्याख्याएं की हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने समाज-व्यवस्था के अहिंसात्मक सूत्रों को अपने चिंतन में स्पष्ट किया है। उनके चिंतन में राष्ट्रधर्म अहिंसा से अछूता नहीं रह सकता। राष्ट्रधर्म प्रत्येक देश-वासी का प्रमुख धर्म है। अहिंसा के स्वरूप को लेकर उन्होंने जो बात कही वह समय-सापेक्ष ही नहीं, बल्कि सार्वजनीन एवं सार्वलौकिक भी है।

राष्ट्रहित के लिए अहिंसा की आवश्यकता पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सर्वाधिक बल दिया है। उन्होंने प्रवृत्ति के दो रूप माने—एक, राग-द्वेष युक्त हिंसक प्रवृत्ति एवं दूसरी राग-द्वेष रहित अहिंसक प्रवृत्ति, जिसका संबंध मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति से जुड़ता है। अतः त्रियोग की संयमित प्रवृत्ति अहिंसा है। यह व्यावहारिक अहिंसा संपूर्ण जगत के लिए आवश्यक है। व्यक्ति-कल्याण हेतु आध्यात्मिक चिंतन आवश्यक है। राग-द्वेष को हटाकर भावों का संग्रहण करना आवश्यक है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपनी पुस्तक 'अहिंसा के अछूते पहलू' में भाव, संयम, अप्रमाद, अनाग्रहवाद आदि

दृष्टिकोणों को अध्यात्मपरक मानते हुए अहिंसक समाज के लिए इन्हें आवश्यक माना है। उन्होंने 'अस्तित्व और अहिंसा' नामक पुस्तक में भोगवादी दृष्टिकोण को वर्तमान की समस्याओं, जटिलताओं एवं मानसिक संताप का कारण माना है। भोगवादी प्रवृत्ति के कारण ही आतंकवाद जैसी विकराल समस्या का जन्म हुआ है। जहां इससे उबरने के लिए भोगातीत चेतना के विकास पर उन्होंने बल दिया और कहा—'इंद्रियों का भोग एक सीमा तक ही उचित है। सीमा के अतिक्रमण का अर्थ है रोग (आतंकवाद जैसा रोग) को खुला आमंत्रण देना।' अतः भोगवाद से मुक्ति के लिए संयम को बल दिया। जिसके द्वारा इंद्रियों पर नियंत्रण किया जा सकता है।

शांतिपूर्ण एवं अहिंसक समाज-संरचना में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सह-अस्तित्व की बात भी कही है। सभी मनुष्य समान हैं। सह-अस्तित्व का फलित है कि हम जैसा चाहते हैं वैसा ही दूसरे के लिए करें। प्राणीमात्र को जीने का अधिकार है। आतंकवाद के लिए किसी जाति या धर्मविशेष को आधार नहीं बनाया गया, बल्कि कहा गया कि सह-अस्तित्व के विकास में ही आतंकवाद की समस्या का समाधान है।

जैनाचार्यों ने अनेकांत दर्शन की व्याख्याएं की हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अनेकांत की आधारशिला पर विचारगत समानता और समन्वय पर जोर दिया है। उन्होंने 'अहिंसा के अछूते पहलू' में कहा कि विचार का आग्रह कलह या संकट को पैदा करता है। इसलिए विचार के लिए भी उन्होंने परिधि निर्मित कर दी। उनके अनुसार विचार का आग्रह न हो, वचन का विवाद न हो, व्यवहार का असंतुलन न हो।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के ये विचार अहिंसा से ओतप्रोत हैं। वैचारिक समानता, समन्वय या सह-अस्तित्व की बात हो; या भोगातीत चेतना के विकास की बात अथवा राग-द्वेष से मुक्ति का मुद्दा हो, ये सभी घटक अहिंसात्मक जीवन शैली के प्रतिरूप हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आतंकवाद की समाप्ति में अभय को सर्वोपरि स्थान दिया, क्योंकि अहिंसक व्यक्ति ही अभय को धारण करता है। जिसमें कुटिलता, छल, कपट, माया आदि दुर्गुण होंगे, वह कभी अभयी नहीं हो सकता। अतः अभय-युक्त जीवन वीरों का, अहिंसक व्यक्तियों का ही हो सकता है।

'अन्याय' समाज की एक प्रमुख बुराई है। इससे सामुदायिक जीवन प्रभावित होता है। यदि हम अन्याय सहते गए तो समाज आतंकित, अशांत और अनैतिक हो जाएगा। इन विकृतियों को समाप्त करने के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अन्याय का प्रतिकार करने का चिंतन समाज को दिया। राग-युक्त इस संसार में जब अहिंसा का विकास होगा, तभी शांति स्थापित की जा सकेगी। जहां रागादिक परिणामों की उत्पत्ति नहीं होती, वहीं अहिंसा का उत्पत्ति-स्थान है। ❖

सम-वितरण; शरीर-श्रम और अहिंसा **पृष्ठ 49 का शेष**

स्वेच्छापूर्वक नहीं होता। संभव हो तो शायद वे शरीर-श्रम से बचना चाहेंगे और जगह हो तो पास-से-पास के शहर में जा बसना पसंद करेंगे। किसी मालिक का अनिवार्य आज्ञा-पालन गुलामी की स्थिति है, जबकि अपने पिता का स्वेच्छापूर्वक आज्ञा-पालन पुत्रत्व का गौरव है। किसी तरह शरीर-श्रम के कानून पर मजबूरी से अमल करने से दरिद्रता, रोग और असंतोष उत्पन्न होता है। यह दासत्व की अवस्था है। खुशी से उसका पालन करने से संतोष और स्वास्थ्य की प्राप्ति होगी। और स्वास्थ्य ही वास्तविक धन है, न कि सोने-चांदी के टुकड़े। ग्रामोद्योग संघ ऐच्छिक शरीर-श्रम का एक प्रयोग है।

शरीर-श्रम की आवश्यकता

मुझे कोई गलत न समझे, मैं बौद्धिक-श्रम का मूल्य नहीं घटा रहा हूं। परंतु बौद्धिक-श्रम कितना भी क्यों न हो, इससे उस शरीर-श्रम की कुछ भी क्षतिपूर्ति नहीं होती, जिसे सबके समान हित के लिए करने को हम सब पैदा हुए हैं। वह शरीर-श्रम से अनंत गुना श्रेष्ठ हो सकता है—बहुधा होता भी है—परंतु वह उसकी जगह कभी नहीं लेता, न ले सकता है। यह ठीक ऐसी ही बात है जैसे बौद्धिक भोजन हमारे खाने के अन्न से कहीं श्रेष्ठ होता है, मगर अन्न का स्थान हरगिज नहीं ले सकता। सच तो यह है कि पृथ्वी की उपज के बिना बुद्धि की उपज ही असंभव हो जाएगी।

बौद्धिक कार्य महत्त्वपूर्ण है और जीवन की योजना में उसका असंदिग्ध स्थान है। परंतु मेरा आग्रह तो शरीर-श्रम की आवश्यकता पर है। मेरा दावा है कि इस जिम्मेदारी से कोई मनुष्य मुक्त नहीं होना चाहिए। इससे उसके बौद्धिक कार्य के गुण में भी सुधार हो जाएगा। मैं दावे से कहता हूं कि प्राचीन काल में ब्राह्मण अपने शरीर और मस्तिष्क दोनों से काम लेते थे। परंतु वे न भी लेते हों तो भी वर्तमान काल के लिए शरीर-श्रम की आवश्यकता सिद्ध हो चुकी है। ❖

आत्म-विकास के क्षेत्र में सम्यक् ज्ञान प्रथम सोपान है और उसे प्राप्त करने का एक माध्यम है—प्रवचन। आत्म-विकास के कार्य में पुरुषार्थ के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन की अति आवश्यकता होती है। प्रवचन के माध्यम से शिथिल होती अध्यात्म-धारा को नई गति प्रदान की जाती है, उससे प्रेरणा का निनाद हो सकता है।

सोच्चा जाणई कल्लाणं

❑ मुनि विनोदकुमार 'विवेक' ❑

एक विवेकशील आदमी कोई भी कार्य जब करता है, तो यह समझते हुए करता है कि यह कार्य क्यों किया जा रहा है और कैसे किया जा रहा है? किसी भी कार्य के लिए 'क्यों' और 'कैसे'—इन दो प्रश्नों के उत्तर की ठीक-ठीक मीमांसा होनी चाहिए। ऐसा करके जो कार्य किया जाता है तो उसका पूरा लाभ मिलने की आशा रहती है। जीवन में बहुत-से कार्य ऐसे हैं जिनके 'क्यों' और 'कैसे' का कोई उत्तर नहीं मिलता। ऐसे कार्य मात्र रूढ़ि बनकर रह जाते हैं जो व्यक्ति को भटकाने के अलावा कुछ नहीं देती।

धार्मिक जगत में प्रवचन का बड़ा महत्त्व है। प्रवचन एक प्रकार से साधु-संतों का पर्याय-सा बन गया है। हालांकि कोई भी व्यक्ति इस उद्देश्य से दीक्षित नहीं होता है, लेकिन अपनी साधना के क्रम में दूसरे भी साधना के लिए प्रेरित हों, इसलिए प्रवचन दिया जाता है। प्रवचन का अर्थ है अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति की प्रेरणा देना।

प्रवचन सुनना स्वाध्याय तप का ही एक भेद है। स्वाध्याय क्यों? इसका उत्तर भगवान महावीर ने दशवैआलियं सूत्र में दिया है। स्वाध्याय चार कारणों से करना चाहिए, यह बताया गया है—**सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ**—'मुझे श्रुत प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।' **एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ**—'मैं एकाग्र चित्त होऊंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।' **अप्पाणं ठाइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ**—'मैं आत्मा को धर्म में स्थापित करूंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।' **हिओ परं ठाइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ**—'मैं धर्म में स्थित होकर दूसरों को उसमें स्थापित करूंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।'

इसी सूत्र में एक जगह कहा है कि—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं क्षेयं तं समायरे।। 4/11।।

सुनकर ही कल्याण (हित) की बात जानी जाती है, सुनकर ही पाप (अहित) की बात जानी जाती है। दोनों बातें सुनकर जानो और जो श्रेय हो उसका आचरण करो।

इसी तरह संतों की उपासना के जो दस लाभ बताए गए हैं, उनमें प्रथम लाभ है—श्रवण और दूसरा है—ज्ञान। व्यक्ति पहले सुनता है, तब उसमें ज्ञान होता है। सुनेगा ही नहीं तो ज्ञान कहां से होगा? किसी भी अनुष्ठान को करने से पहले उसका पूरा ज्ञान आवश्यक है।

कोई व्यक्ति कार चलाता है तो सबसे पहले जरूरी है कार चलाने का उसे ज्ञान हो। ज्ञान के अभाव में यदि वह कार चलाने की कोशिश करेगा तो दुर्घटना घटित हो सकती है। कार, स्वयं कारचालक को या किसी भी अन्य व्यक्ति को चोट पहुंचा सकती है। यह बात सभी जगह लागू होती है। भगवान महावीर ने भी कहा है कि—

पढ़मं नाणं तवो दया, एवं चिट्ठई सव्व संजए।
अन्नाणी कीं काही, कीं वा नाहिइ क्षेय पावगं।।

पहले जानो फिर आचरण करो। अज्ञानी क्या करेगा, वह कैसे जानेगा कि कौन-सा कार्य श्रेय और कौन-सा हेय? इस प्रकार आत्म-विकास के क्षेत्र में सम्यक् ज्ञान प्रथम सोपान है और उसे प्राप्त करने का एक माध्यम है—प्रवचन। आत्म-विकास के कार्य में पुरुषार्थ के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन की अति आवश्यकता होती है। प्रवचन के माध्यम से शिथिल होती अध्यात्म-धारा को नई गति प्रदान की जाती है, उससे प्रेरणा का निनाद हो सकता है।

प्रवचनों में वैसे तो भारी भीड़ लगती है पर असली लाभ वे ही उठा पाते हैं जो सच्चे श्रोता होते हैं। एक सच्चा

श्रोता ही प्रवचन सुनने का सच्चा अधिकारी होता है।

प्रवचन सुनने का उद्देश्य सम्यक् हो जाने के बाद आचरण भी सम्यक् होना चाहिए। विधि सहित प्रवचन सुनकर लाभ लेने के लिए कई बातें ध्यान देने की हैं। प्रवचन सुनने के सच्चे अधिकारी तभी बन सकते हैं, जब उनका ध्यान रखा जाए।

श्रोताओं को चार भागों में बांटा जा सकता है—

(1) पहला वह जो 'जानता है, और जानता है कि वह जानता है'—इस प्रकार के व्यक्ति का विवेक जागृत रहता है। वे स्वयं-प्रज्ञ होते हैं। इन्हें किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। (2) दूसरे प्रकार के व्यक्ति—'जानते हैं, पर नहीं जानते कि वे जानते हैं'—ऐसे व्यक्ति को थोड़ा-सा इशारा ही काफी होता है। थोड़े-से संकेत से ये समझ जाते हैं। (3) तीसरे प्रकार के व्यक्ति वे हैं—'जो नहीं जानते, पर जानते हैं कि वे नहीं जानते'—ऐसे व्यक्ति अज्ञानी होते हैं, पर सरल होते हैं, अपने अज्ञान को ऋजुता से स्वीकार करते हैं। ऐसे व्यक्ति को समझाकर, प्रशिक्षण देकर इनके अज्ञान को हटाया जा सकता है। ये अपना विकास कर सकते हैं। (4) चौथे प्रकार के व्यक्ति—'नहीं जानते, पर नहीं जानते कि वे नहीं जानते हैं'—इन्हें अपने अज्ञान का एहसास ही नहीं होता। ये मूढ़ प्रकृति के होते हैं। इन्हें उपदेश देना व्यर्थ ही होता है। आगमों में ऐसे व्यक्ति को कांटे से उपमित किया गया है। जिस प्रकार किसी के वस्त्रों में कांटा फंस जाए और कोई उसे निकालने का प्रयास करे तो वह कांटा कपड़े को भी फाड़ सकता है और हाथ को भी घायल कर देता है। ऐसे व्यक्ति प्रवचन सुनने के अधिकारी नहीं होते।

इस प्रकार प्रवचन सुनने के वास्तविक अधिकारी वे हैं जो सम्यक् विधि से सुनते हैं। उस पर चिंतन-मनन करते हैं और उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं।

कहा गया है **धम्मोशुद्धस्स चिट्ठई** धर्म वहीं ठहरता है जहां शुद्धता होती है। एक सरल व्यक्ति ही धर्म सुनने और करने की पात्रता रखता है। अपात्र को दिया गया ज्ञान-दान व्यर्थ ही जाता है। प्रवचन श्रवण की कुछ आचार-संहिता भी होती है। जैसे—

कैसे बोलें—प्रवचन के समय बात न करें। यदि अति आवश्यक हो तो कम शब्दों में धीमे-से बोला जा सकता है।

कैसे बैठें—व्यवस्था की दृष्टि से जो स्थान निश्चित किया गया हो उसका उल्लंघन न करें। देर से आने वाले आगे आने का प्रयत्न न करें। प्रवचन प्रारंभ होने के बाद बीच में आकर, उठ-बैठकर वंदना करने से प्रवचन के प्रवाह में बाधा आती है। पैरों को दोनों हाथों से बांधकर न बैठें और न पैर फैलाकर बैठें। पैर-पर-पैर चढ़ाकर न बैठें। संतों के सामने ऐसे बैठना अविनय का प्रतीक है। बैठने के स्थान का चुनाव ऐसा हो कि प्रवचनकार का मुख दिखाई दे सके, इससे ध्यान लगाकर सुनने में सहायता मिलती है। अपने शरीर से दूसरे का शरीर-स्पर्श न हो। संत प्रवचन स्थान में आए और जब तक वे खड़े रहें तब तक न बैठें। इधर-उधर बिखरे हुए न बैठें। पंक्तिबद्ध बैठने से प्रवचन-सभा की शोभा बढ़ती है।

प्रवचन सुनना भी एक कला है। अतः हमें यह भी समझना चाहिए कि प्रवचन कैसे सुनें? जैसे—

मन लगाकर सुनें। इधर-उधर अनावश्यक ताक-झांक न करें। प्रवचन सुनते समय जप, ध्यान न करें और न ही अन्य पुस्तक पढ़ें। प्रवचन के मुख्य अंशों को लिख लेना चाहिए ताकि बाद में स्वाध्याय में काम आ सकें। प्रवचन सुनते समय मुंह में पान-सुपारी आदि न रखें। प्रवचन के भाव समझने का प्रयास करें। संदेह होने पर प्रवचन के बाद अवसर देखकर विनयपूर्वक पूछें। प्रचवन के बीच में प्रश्न न करें। ज्ञान को स्वयं के आचरण में उतारें। ज्ञान को हृदयंगम करें, ताकि अवसर आने पर दूसरों को भी समझाया जा सके।

इसी तरह कुछ बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। जैसे—प्रवचन स्थल की पवित्रता नष्ट न हो। वहां खाने-पीने की वस्तुएं गिराकर गंदगी न फैलाएं और न ही जूते-चप्पल तथा गंदे पांव सहित प्रवचन-स्थल पर जाएं। छोटे बच्चों को साथ लाने का विवेक रखें। बच्चे रोने लगें या शोर मचाएं तो तत्काल उन्हें दूर ले जाएं। वस्त्र स्वच्छ, शालीन और सादगी-प्रधान हों।

सार्थक जीवन के लिए विवेकवान होना बहुत जरूरी है और विवेक तभी प्रखर होता है, जब व्यक्ति बहुश्रुत हो। प्रवचन से बढ़कर बहुश्रुतता का अन्य कोई विकल्प नहीं है। इसके लिए उचित स्थल, योग्य गुरु और एकाग्रता अपरिहार्य है। एकाग्र होकर जो-भी सुना जाता है, वह न केवल चिर-स्थाई ही होता है, अपितु पूर्णतः मननीय भी होता है। यही मनन विवेकशील व्यक्ति को जिज्ञासु बनाए रखता है और जीवन में करणीय-अकरणीय एवं आचरणीय कर्तव्य हेतु उत्प्रेरणा देता है।

सार-रूप में कहा जा सकता है कि प्रवचन को अच्छी तरह सुनकर और विचारोपरांत ही उन बातों को अपने आचरण में शामिल करना या अपनाना चाहिए, अपने को उनके अनुकूल बनाना चाहिए, तभी जीवन सार्थक होगा, धन्य होगा। ❖

दो बज गए थे। बहू और पोते का पता नहीं था। सिनेमा तो कब का छूट गया होगा! अब तक क्यों नहीं आए? कहीं कार से तो नहीं टकरा गए? जेबरों की चोरी...गला दबाकर...हे भगवान! ये लोग अब तक क्यों नहीं आए? बाबा बहुत घबरा गए थे। अंदर-बाहर चक्कर लगाते रहे। चोट खाकर, खून से लथपथ पड़े पोते और बेहोश पड़ी बहू को याद करके वे बेचैन हो गए।

शरीर से पसीना छूटने लगा। बूढ़ा शरीर था। दिल भर आया। एकाएक दरवाजा खटखटाने की आवाज आई। खुशी-खुशी दरवाजा खोला। सामने पड़ोसन थी।

बालकथा

बोया वैसा ही काटना

❑ मु. समुत्तिरम ❑

बूढ़े बाबा गुसलखाने में थे। वे नहा रहे थे। तभी उनके पोते सेल्वम ने दरवाजा खटखटाया।

'दादाजी, जल्दी से नहा लीजिए। सिनेमा जाना है, देर हो रही है। अम्मा तैयार हो गई है।'

पोते की आवाज बाबा को सुनाई नहीं दी। उसने दरवाजे को धक्का मारा। मगर बाबा आराम से नहा रहे थे। पोते ने अब जोर-जोर से दरवाजे को पीटा।

कमला का धीरज टूट गया। उसने घड़ी की ओर देखा और बटुए को ऊपर-नीचे हिलाती रही।

बेटे ने और भी ऊंची आवाज में पुकारा। उसे देखकर कमला बोली—'इतनी मार खाकर शर्म से दरवाजा भी टूट जाता। लेकिन उन्हें तो किसी की परवाह नहीं है।' वह सीधे मुंह ससुर को कभी गाली नहीं देती थी। इधर उसकी यह बात खत्म हुई और उधर गुसलखाने में पानी की छल-छल भी थम गई। बाबा जल्दी-जल्दी बाहर आए। वे एक कोने में जाकर बैठ गए और तौलिए से सिर पोंछने लगे।

बहू ने एक थाली में चावल डाला और गुस्से में थाली को जमीन पर पटक दिया। बाबा ने हाथ से चावल को मिलाया। पहला कौर मुंह में लिया, नमक थोड़ा कम था। मांगना चाहते थे, पर चुप रह गए। 'बेशर्म हूं न, फिर नमक किसलिए?'—उन्होंने अपने-आप से मन-ही-मन पूछ लिया।

सब्जी के नाम पर थाली में आलू के दो टुकड़े-भर रखे थे। आलू उनकी तबीयत को रास नहीं आता था। वात की शिकायत थी उनको और बवासीर के मरीज भी थे। एक बार डॉक्टर ने उन्हें जमींकंद खाने को कहा था। बेटे ने भी उन्हें जमींकंद की सब्जी और जमींकंद का सूप पिलाने को कहा। एक दिन कमला ने जमींकंद पकाया। आधे छिलके ही निकाले थे और सब्जी बना दी थी। बाबा की जीभ जल गई। लेकिन दूसरे दिन पेट साफ हो गया।

अगले हफ्ते भी पति के कहने पर उसने जमींकंद पकाया। उस समय सेल्वम ने आकर कहा—'पाठशाला जाऊं तो कक्षा के बाहर ही खड़ा रहना पड़ेगा...तुमने मुझे कपड़े नहीं पहनाए। मैं स्कूल नहीं जाऊंगा।'

'क्या करूं, बेटा? इस घर में दो सब्जियां बनानी पड़ती हैं। तुझे कपड़े पहनाकर तैयार करने का समय कहां है, जमींकंद खाए बिना क्या जान चली जाएगी?' बात-बात पर वह ताने देती थी। बात कितनी कठोर थी? सुनकर बाबा दुखी हो गए। भीतर तक हिल गए।

मुंह का कौर अंदर नहीं गया। बहू से कहा—'मेरी तबीयत ठीक है। कल से जमींकंद पकाने की जरूरत नहीं है।'

बाबा धीरे-धीरे खा रहे थे। अब सिनेमा कैसे जाएंगे? बहू ने घड़ी की ओर देखा। फिर बाबा की थाली में बचे भोजन को देखा।

बात को समझने में बेटा चतुर था। बोला—'अम्मा, उस सिनेमा में क्या मार-धाड़ भी होगा?'

'तू क्यों मेरी जान खाता है? पहले खाने-पीने का झगड़ा तो निपटे, तब देखेंगे...।'

चावल के बड़े-बड़े गोले बनाकर बाबा ने मुंह में डाले। दुख से भरे गले में चावल अटककर रह गया। फिर उठकर थाली धोने लगे।

'हाथ-पांव क्या गल गए? मैं क्यों किसी की जूठी थाली धोऊं?' बहू ने ही एक दिन ऐसा कहा था। सो, उस दिन से बाबा अपनी थाली खुद ही साफ करके रखने लगे।

बाबूजी ने थाली धोकर रख दी। बहू ने रसोईघर को ताला लगाया है और चाबी लेकर सिनेमा चली गई।

बाबा एक कोने में जाकर लेट गए। बाहर पड़ी आरामकुर्सी कमरे में बंद थी, नहीं तो बाबा कुछ देर बैठ जाते।

एक जमाने में बाबा भी जवान थे। अपने मां-बाप की खूब सेवा करते थे। अपनी पत्नी से हमेशा कहते थे कि मां-बाप की अच्छी तरह से देखभाल किया करें। गांव में उनकी काफी जमीन थी, खेत थे। वे आजादी से और अपनी इच्छा से जी रहे थे।

उन्होंने अपने इकलौते बेटे को पढ़ाया-लिखाया। उसकी गृहस्थी बसाई। अपने गांव में रहकर ही उन्होंने यह सब-कुछ देखा-किया। बेटा अपनी गृहस्थी के साथ शहर में रहने लगा। बेटे ने अपने साथ शहर में रहने को बाबूजी से भी कहा, पर वे टालते रहे। बेटे ने बार-बार बुलाया पर बाबा नहीं माने।

'बाबूजी, चेन्नई में एक मकान खरीदा है। अपनी जमीन-जायदाद बेचकर एक लाख रुपए में मकान बनाया जाए तो हर महीने किराया आएगा। वैसे भी मेरी आमदनी में गुजर-बसर नहीं हो पाता।'

एक रोज बेटे ने यह प्रस्ताव बाबा के सामने रखा।

बाबूजी क्या कहते? बेटे के कहने पर कागजों पर हस्ताक्षर कर दिए। वे अब सत्तर पार कर चुके थे। बेटे ने फिर से शहर में आकर रहने को कहा। पोते का मुंह देखकर मरने की इच्छा से बाबा शहर आ गए।

दो बज गए थे। बहू और पोते का पता नहीं था। सिनेमा तो कब का छूट गया होगा! अब तक क्यों नहीं आए? कहीं कार से तो नहीं टकरा गए? जेवरों की चोरी...गला दबाकर...हे भगवान! ये लोग अब तक क्यों नहीं आए? बाबा बहुत घबरा गए थे। अंदर-बाहर चक्कर लगाते रहे। चोट खाकर, खून से लथपथ पड़े पोते और बेहोश पड़ी बहू को याद करके वे बेचैन हो गए।

शरीर से पसीना छूटने लगा। बूढ़ा शरीर था। दिल भर आया। एकाएक दरवाजा खटखटाने की आवाज आई। खुशी-खुशी दरवाजा खोला। सामने पड़ोसन थी।

'क्या कमला अभी तक नहीं आई?'

'नहीं आई।' बाबा ने कहा।

'अरे, आज उसके बाबूजी आ रहे हैं न। सिनेमा छूटते ही सीधे रेलवे स्टेशन जाने के बारे में कह रही थी।' पड़ोसन ने बताया।

बाबा की जान-में-जान आई। बहू और पोता ठीक हैं, इस विचार ने मन से डर को निकाल दिया।

डर के जाते ही उन्हें भूख लगने लगी। भूख भयंकर होती है। हमेशा वे अब तक तो भोजन कर लेते थे। किंतु आज घर में बहू कहां थी, जो खाना देती।

छह बज गए। अब भूख बाबा को खाने लगी, सताने लगी।

सात बजे कमला अपने बाबूजी के साथ घर में आई। जल्दी से कमरा खोला और आरामकुर्सी लाकर बिछा दी।

बाबूजी! इस पर आराम कीजिए...और खुद सामने कुर्सी पर बैठ गई। कमला के पिता रामनाथन की उम्र साठ बरस की होगी। वे बाबा से बातें करने लगे।

आठ बज गए। कमला अब भी रसोईघर में नहीं गई। बाबा का भूख से हाल बेहाल था।

कमला अपने पिताजी से पूछ रही थी—'आपने पूरा डोसा क्यों नहीं खाया? आधा क्यों रख दिया?' वे दोनों उसी शाम को होटल में खाई चीजों के बारे में ही बातें करते रहे। इधर बाबा अपने दोनों हाथों से पेट को भींचे भूख की कुलबुलाहट से परेशान हुए जा रहे थे। पर कमला को इसका कोई खयाल न था।

नौ बजे जाकर कहीं कमला रसोई में गई। बाबा चुपचाप कमला को रसोईघर में इधर-उधर जाते देखते रहे। छटपटाते पेट को कांपते हाथों का सहारा देते रहे।

दस बजे जाकर कमला ने भोजन परोसा और अपने पिताजी को प्यार से बुलाया।

'आपको बवासीर की शिकायत है न...मैंने जमींकंद का सूप बनाया है। थोड़ी इमली ज्यादा डाली है, इससे खट्टापन नहीं रहेगा।' कमला ने अपने पिताजी से कहा।

रामनाथन की चार दिन खूब खातिरदारी हुई। दिन में वे अपनी बेटी और नाती के साथ बाहर निकल जाते। पीछे बाबा को कभी भूखे भी रहना पड़ता तो बहू को कोई फिक्र न थी। वह आरामकुर्सी भी उनके बाहर जाते समय अंदर रख दी जाती थी।

आखिर एक दिन सवेरे रामनाथन गांव जाने के लिए तैयार हुए। बेटी की दी हुई मिठाई का एक डिब्बा उन्होंने अपनी थैली में डाला।

बड़े प्यार से अपने पिताजी को देख कमला बोली—'अपनी तबीयत का ध्यान रखिए, बाबूजी। बवासीर की शिकायत है—आपको, अब वात का चक्कर भी...'

'तबीयत का क्या है, बेटी? बस, भगवान जल्दी-से बुला लें।' पिता ने कहा।

'ऐसी बात क्यों कहते हो, बापू?'

'अब तुमसे क्या छिपाऊं बेटी, इन चार दिनों में साल-भर का सुख मिल गया। गांव जाते ही तो वही नरक...' पिता रामनाथ से बोला न गया।

बेटी अवाक् रह गई। उस ने हैरानी से पिता की ओर देखा।

'हां बेटी! तेरी भाभी भरपेट एक दिन भी खाना नहीं देती। गली के कुत्ते की तरह मुझसे सलूक करती है, वह। तेरा भाई कभी-कभार यदि मेरे लिए मिठाई लेकर आ जाए तो बस...न पूछो! किसी-न-किसी बहाने उससे भी लड़ती है सारा दिन। मुझे भी पीठ पीछे गाली देते नहीं चूकती। मेरा जीना अब बेकार है बेटी...!' रामनाथन की आंखें भर आईं। कमला भी सुनकर रो पड़ी थी।

'बापू...! आप यहीं रहो, मैं आपका पूरा खयाल रखूंगी...।' पर ऐसा रामनाथन कैसे कर सकते थे?

बेटी की पीठ थपथपाकर रामनाथन चले गए।

उस दिन दोपहर का खाना नहीं बना। कमला तो सारा समय होती ही रही। वह रसोईघर में अंदर भी नहीं गई।

'कैसे तंदुरुस्त थे बापू? इस चंडी भौजी ने उनकी क्या हालत बना दी है? पेट-भर खाना भी नहीं देती...। पापिन! तेरे बापू को भी ऐसे ही दिन देखने पड़ेंगे। जो जैसा बोएगा, उसे वैसा ही काटना पड़ेगा।' कमला मन-ही-मन अपनी भाभी को कोसती रही और रोती रही।

दिन के ढाई बज गए थे। उसे एकाएक बाबा की याद आई। जल्दी-से उठकर उनके पास आई।

बाबा भूख से बेहाल थे। भूख बहुत बढ़ गई और सहन नहीं हुई तो नल खोलकर पानी ही पीने लगे। कमला दौड़कर उनके पास गई और पैरों में पड़ गई। कमला को अब अपनी गलती का एहसास हो गया था।

बाबा की आंखों में भी आंसू थे। ❖

अनुवाद : **विजयलक्ष्मी सुन्दरराजन**

मैं हिंदू हूं और आत्मा के अमरत्व में विश्वास करता हूं। पुनर्जन्म और कर्मफल में भी मेरा विश्वास है। मेरा धर्म ही मुझे शक्ति देता है कि अधर्म से निपट सकूं। प्रतिक्रिया और प्रतिशोध की कायर हिंसा के बल पर नहीं, अपनी आस्था, अपने विचार, अपनी अहिंसा और अपने धर्म की अक्षुण्ण शक्ति पर।

—प्रभाष जोशी

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

Bearing is not our only business.

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926/0640, Fax-22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

सरावगी परिवार के संस्थापक

महादेवजी सरावगी
1893-1953

पचास वर्ष पूर्व गंगाशहर (राजस्थान) में
परमपूज्य आचार्यश्री तुलसी के पावन चरणों में दिवंगत
उस आत्मा की पुण्य स्मृति में

गोबिन्दलाल-सीता सरावगी (पुत्र एवं पुत्रवधू)
पानादेवी-नथमल काजड़िया (पुत्री एवं दामाद) एवं परिवार

मृत्यु केवल उनके लिए दुख है, जो विवेकशून्य हैं
जो विवेकपूर्ण हैं, उनके लिए मृत्यु भी एक आनंद है

महादेवलाल गंगादेवी सरावगी फाउंडेशन की श्रद्धांजलि

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।